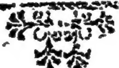
२६ जनवरी, सन् १९४८ ई०



तीसरा [३] पुष्प



मूल्य—एक रुपया

रतनगढ़ (राजस्थान)

—: प्रकाशकीय :—

स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र युग में आज कई साहित्य संस्थाएं अपना प्रगतिशील प्रकाशन कर रही हैं, जिससे कि देश में आज साहित्य-प्रगति का प्रवाह एक सांस्कृतिक क्रांति को लेकर प्रस्फुटित हो रहा है। यह हमारे राष्ट्र का स्वर्णप्रभात है और इसी सुन्दर वेला ने 'आदर्श-साहित्यसंघ' को जन्म दिया है।

भारतीय संस्कृति और जैन-दर्शन के अनुकूल आदर्श धार्मिक और सांस्कृतिक साहित्य का प्रगतिशील प्रकाशन आदर्श-साहित्यसंघ का मुख्य ध्येय है। और इसी ध्येय को लेकर संघ अपनी एक विस्तृत योजना के साथ भारतीय राष्ट्र में एक ऐसे साहित्य की कल्पना रखता है जो राष्ट्र के नैतिक आत्मिक और सांस्कृतिक जीवन को बल दे सके और युग की सभी विचारधाराओं का समन्वय करते हुए जन-मन में आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चय करने में सफल हो सके, जिसका कि आज के साहित्य में अभाव सा है। जिसके कारण हमारे राष्ट्र की नैतिक व आत्मिक शक्तियां छिन्न-भिन्न व एक दूसरे ही प्रवाह में वही जा रही हैं। जिनका निरोध ऐसे ही साहित्य के आविर्भाव पर सम्भव है। जो हमारे स्वतन्त्र मानसिक विकास को कुँठित न करते हुए उसे वस्तुतः प्रगति पर संगठित कर सके। इस दिशा में यह एक प्रयत्न मात्र है। जो हम अपने पाठकों के समक्ष रख रहे हैं। आशा है, सहृदय पाठक और आत्म जिज्ञासु इसका स्वागत कर हमें प्रोत्साहित करेंगे, तो निसंदेह संघ आपकी सेवा करने में समर्थ हो सकेगा।

साहित्य मन्त्री
आदर्श साहित्य संघ

६- धन, बल, एश्वर्य, विद्या आदि अपनी विशेषताओं के कारण किसी को अपने से नीच नहीं समझना चाहिए।

७- जाति व्यवस्था अस्थायी है। भिन्न भिन्न समय में उसमें परिवर्तन होता रहता है। स्पृश्य और अस्पृश्य का परिवर्तन तो हमारी आंखों के सामने है। एक अछूत मुसलमान या ईसाई होने के बाद स्पृश्य हो जाता है। अतएव यह सब अतात्विक है।

१- जाति व्यवस्था के विषय में विलोकनीय जैन साहित्य का कुछ संकेत—

१- जैन सिद्धान्त दीपिका, सूत्र २३, २४ और २५ श्री तुलसीरामाचार्य विरचित।

२- उत्तराध्ययन अध्ययन २५ गाथा ३१, ३२ और ३३।

३- उत्तराध्ययन अध्ययन १२ गाथा १४ वीं।

४- आदिपुराण अध्याय- ३८ श्लोक ४६ आचार्य जिनसेन रचित।

— आंखें खोलो —

आमुख:

सुख और दुःख आपस में विरोधी तत्व हैं। मनुष्य की सहज प्रकृति में सुख की आकांक्षा होती है और दुःख की अनिच्छा। मनुष्य का चरम लक्ष्य सुख को प्राप्त करना ही है। विश्व के प्रत्येक महापुरुष ने सुख का मर्म समझाने का सफल प्रयत्न किया है और जन साधारण ने उनकी वाणी को अपनाने का। जन साधारण में सुख क्या है? वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है? ये प्रश्न सर्वोपरि रहे और आज भी हैं। युग के मुख्य व्यक्तियों ने इनका समाधान किया और करते भी हैं। साधारण लोगों के शब्दों में अनुकूल वेदना ही सुख है अर्थात् जिस अनुभव को प्राणी अपने अनुकूल समझे वही सुख है।

नीति शास्त्रज्ञों के शब्दों में अपने हितों की रक्षा करना एतदर्थ भांति भांति की चेष्टाएँ करना या करते रहना ही सुख है। अध्यात्मवादियों की वाणी में प्राणियों का वह आह्लाद जिससे दूसरों का कोई नुकसान न होता हो हिंसा आदि का आचरण न होता हो, सुख है। नीति की दृष्टि में योग सामग्री को प्रबल करना, आवश्यकताओं को बढ़ाना, साम्राज्य का विस्तार करना, एक छत्र शासन जमाना अपना ताज सबसे ऊंचा रखना, अपने हितों की रक्षा के लिये दूसरों के हितों को कुचल डालना, आर्थिक धरातल को ऊँचा उठाना, स्वजाति, स्वकुल, स्वकुटुम्ब का महत्व बढ़ाना इस कोटि के कार्य सुख के साधन हैं। अध्यात्म पण्डितों ने मन और वाणी को पवित्र रखना, सब प्राणियों को आत्म तुल्य समझना-(अहिंसा) व्यवहार में, बोल चाल में और काम

काल में आत्मस्वतन्त्रता का सन्मान करना (सत्य) परकीय अधिकारों का अपहरण नहीं करना (अचौर्य) अपनी सत्त्व की रक्षा करना (ब्रह्मचर्य) आवश्यकताओं को घटाना (सन्तोष) इनको सुख का साधन माना है।

[illegible] भौतिक परम्पराओं ने महती आकांक्षा एवं महा आरम्भ बढ़ाने में सुख का दर्शन किया, और इनके विपरीत दुःख का। अध्यात्म शास्त्रियों की वाणी ने सुख का दर्शन महाकांक्षा एवं महारंभ के अल्पीकरण में किया है और इनके अभाव में दुःख का। इन दोनों परंपराओं का ठीक वैसा ही विरोध है जैसा कि सुख और दुःख का। जनता का झुकाव जितना विलोम मार्ग की ओर हो सकता है उतना अनुकूल पथ की ओर नहीं! चूँकि विलोम मार्ग में स्पष्ट प्रलोभन है, तड़क भड़क है, व्यामोहक आकर्षण है, सबको ललचाने वाली कल्पनाएँ हैं और आंखों को आलोक-हीन बनाने वाली अँधियारी है। अनुलोम मार्ग का बनाव सीधा-सादा है। खैर! जो कुछ हो हमें दोनों का परिणाम निहारना चाहिये। परिणाम में जो ठीक उतरे सुखार्थी दृष्टिकोण का लक्ष्य होना चाहिये। खाज खुजली के आमोद का आखिरी फल कटु है। आमाशय की नाताकती में अच्छे से अच्छा गरिष्ठ भोजन भी हानि जनक होगा। आवश्यकताओं को बढ़ाने का, कुटिलताओं का चक्र घुमाने का, एवं दूसरों के अधिकारों को नोचने का भयावह परिणाम क्या आज भी हमारी आंखों के सामने नहीं? "गई सो गई अब राख रही को" के अनुसार अब भी चेतना चाहिये। भेड़ी प्रवाह के अनुसरण से क्या होगा। मनुष्य कुँवे नहीं है जो हां को हां की प्रतिध्वनि किया करें। एक मार्ग के बुरे

परिणामों को देखकर अवश्य ही दूसरे पथ की शरण में जाना चाहिये। उसे परखना चाहिये। वह पथ आकांक्षाओं एवं आरंभ को कम करते हुए चले जाने वालों का है। उसका अभ्यास कठिन है पर परिणाम सुन्दरतम। वस्तुतः यदि सुख की ओर आगे बढ़ना है तो निश्चिन्त रूपेण इस पथ पर पैर बढ़ाने होंगे। अन्यथा सुख की कामना सफल न हो सकेगी।

—मुनि नथमल

आँखें-खोलो

-: क्रम-सूचि :-



[१]

जैन संस्कृति की नींव

परिवर्तन का अटल साम्राज्य विश्व के अंचल तक व्याप्त है। वह क्यों और किसलिए? इसके समाधान के लिये हमारे पास कोई एक ऐसा सीधा एवं पर्याप्त साधन नहीं जिससे हम उसकी (परिवर्तन की) असीम भाव राशि को सीमाबद्ध कर सकें। वह मानव समाज की ...। प्राणी मात्र की नहीं, पदार्थ मात्र की सत्ता में व्याप्त है। उसकी अविच्छिन्न सत्ता ने विश्व को नाटक के मंच पर ला खड़ा किया है। मानव वर्ग की वाणी में, भावना में और कर्म में उसका एकाकार अधिपत्य है। काल चक्र उसका एक अनन्य साथी है। काल की अतुल महिमा उसे विश्ववन्द्य महामहिम बना रखा है। हाँ- यही तो कारण है कि आज अध्यात्म मूर्धन्य भारत भूमि की धर्म प्रधान भावनाएं विक्रान्त हो उठी हैं। वीभत्स रस की तरंगों से नाच उठी हैं। जिस भूमि ने धर्म के अनन्त महात्म्य के साथ अपना सार्वभौम समृद्ध रूप

देखा था वही आज उसकी व्यापकता में संदिग्ध है। क्या इसे परिवर्तन चक्र का हेतु नहीं कह सकते।

धर्म ने हमारा सांस्कृतिक विकास किया था। धर्म से हमने आचार एवं विचार विशुद्ध और परिपक्व बने थे। धर्म के प्रभाव से ही हमारी सभ्यता आज की वर्बर एवं घातक सभ्यता से कोटि कोटि अधिक मूल्यवान थी। क्या उन्हीं के दिल में उन्हीं के प्रति ग्लानि और कटु अविचार पूर्ण प्रलाप? यही तो विचारों का धुंधलापन है। सोने की थाली में मेख है। हमें कहना होगा कि अदूरदर्शियों ने धर्म को भुला कर अपने आपको धोखा दिया है। एक अमूल्य स्वर्गीय निधि को खो बैठे हैं। आज उन्हें विपाक्त वातावरण से गुजरना पड़ रहा है। मैं समझता हूं कि मैं भावों के प्रवाह में वह रहा हूँ। मुझे वापिस उसी मध्य विन्दु पर आना होगा। जहां से धर्म को भुलाने का प्रश्न उठा है सीधे साधे लोगों ने धर्म को नहीं भुलाया। घृणा के भाव पैदा नहीं किये। यह सब उन स्वार्थ पुजारियों की ही लीला है. जिन्होंने अपने स्वार्थ को साधने का सबसे सीधा एवं सरल उपाय धर्म को ही पाया। धर्म के नाम पर मनमानी करने में सफल बने।

— आंखें खोलो —

धर्म को कलह कदाग्रहों का अखाड़ा बना दिया। जिस धर्म का उद्गम स्थान मैत्री का स्रोत है उसके नाम पर ईर्षा के बीज बोये। भोले भाले लोगों को गुमराह किया। तब ही तो धर्म के नाम से घबराहट है, लोगों को अप्रेम और अश्रद्धा है। अन्यथा धर्म जैसी अनमोल वस्तु को क्यों इस प्रकार कदर्थना की कारा में बन्दी बनना पड़ता? क्यों व्यर्थ के आरोपों का भार सिर पर ढोना पड़ता? और क्यों वह जन साधारण के विचारों से मुंह मोड़ता? स्वार्थ साधकों की काली छाया इतनी व्यापक न बन पाती तो धर्म का अनन्त गौरव इस प्रकार निम्न दशा का अनुभव नहीं कर कर पाता। इतिहास भी दूसरे ढंग का उपलब्ध होता। बर्बरता के काले चित्र गौरव से बाहर न निकल पाते। हमें आज कुछ और ही देखने को मिलता। हमारी अहिंसा प्रधान संस्कृति के बीज विश्व वाटिका को पल्लवित किये नजर आते। सचाई के फूल जीवन में पल पल में खिलते। पर वस्तु हड़पने की चेष्टा नाम शेष रह जाती। ब्रह्मचर्य का अखण्ड तेज दिव्य ललाट स्थली पर चमकता। सन्तोष से सुख के झरने झरते। इतिहास की कोई भी पंक्ति कलह की काली रेखा से खंचित

न हो पाती। पर ऐसा हो कैसे ? इससे पेटार्थियों के पेट पल नहीं सकते। स्वेच्छा वृत्ति का स्वप्न पूर्ण नहीं हो सकता। इसीलिए तो उन्होंने धर्म जैसे कोमल एवं मैत्री-प्रधान पदार्थ को कलह, ईर्षा एवं नरमेध जैसे हिंसक स्थलों में प्रयोग करने योग्य उत्तेजक शस्त्र बनाया। उसके कटु परिणामों से उपद्रुत जन उससे दूर रहने में ही अपना भला समझने लगे और धर्म का महत्त्व आंखों से ओझल होने लगा और आज भी वही दशा है, वही उलझन और बन्धन है। और वही संशय है कि धर्म देश समाज या किसी समूह विशेष का पतन या ह्रास हुआ है। इस प्रकार सोचने वाले ऐतिहासिक सत्य से भी आंखे मूंद लेते हैं। इतिहास हमें बताता है कि किसी का भी पतन हुआ वह पारस्परिक द्वेष या व्यर्थ के झूठे धार्मिक आडम्बर से हुआ असली धार्मिक नियमों के अनुशीलन से नहीं। अतएव इस भ्रान्ति का मूलोच्छेद कर उसकी परख के लिए हमें एक दृष्टि डालनी चाहिए।

जहां तक हो सके उसे जीवन संस्कृति का आधार शिला मान कर जीवन का स्तर ऊंचा और आदर्श बनाना चाहिए। उन्नत संस्कृति से अनुप्राणित समाज

एवं राष्ट्र उन्नत होगा। संस्कृति का प्रभाव अचूक है मानव समाज के आचार एवं विचार उसके अनुयायी हैं। देशकाल की भिन्नता से वह परिवर्तित होती रहती है। राज्य एवं धर्म व्यवस्था के परिवर्तन के साथ भी उसका गाढ़ा सम्बन्ध है। जिस समय जिनका उत्कर्ष काल होता है। उनके विचारानुकूल वह भी नवजीवित होती रहती है। उसके नवीकरण से उसमें अच्छाई आती है या बुराई यह सब कुछ बहुलांश में तत्कालीन परिस्थितियों पर ही निर्भर है। एक परिस्थिति में जो व्यवस्था उपयोगी होती है वह दूसरी परिस्थिति में अनुपयोगी हो जाती है और वैसे ही अनुपयोगी की उपयोगिता बढ़ जाती है। अतएव हम अपेक्षावाद के अनुसार यह कहने के लिए असमर्थ हैं कि प्राचीन संस्कृति बुरी है और वर्तमान की अच्छी; अथवा प्राचीन अच्छी है एवं आज की बुरी। कविवर कालीदास ने भी इसी आशय से लिखा है:—

पुराण मित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नव मित्य वद्यं
सन्तः परीक्षान्य तरद् भजन्त, मूढ़ः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः ॥१॥

सन्त लोग परीक्षा के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु के गुण दोष का विवेक करते हैं। लाभकारक वस्तु को अंगीकार करते हैं एवं हानिकारक को त्यागते हैं। संस्कृति का गुण

या दोष उसे परीक्षा की कसौटी पर कसने से ही प्रतीत हो सकता है। परीक्षित पदार्थ अधिक विश्वस्त बन जाता है। परीक्षा प्रणाली का आविर्भाव क्यों हुआ? इसका ऐतिहासिक शोध से यही पता चलता है कि विभिन्न विचारों के समुदाय में रहने वाला मनुष्य किसका अनुगामी बने यह एक सामूहिक प्रश्न उठा और तार्किकों ने इसका उत्तर परीक्षा के रूप में दिया। परीक्षा का लक्षण जैनाचार्यों ने इस प्रकार किया है—"नाना विरुद्ध युक्ति प्राबल्य दौर्बल्याव धारणाय वर्तमानो विचारः परीक्षा" अर्थात नानाप्रकार की विरोधी युक्तियों की प्रबलता एवं दुर्बलता के निर्णयार्थ जो विचार किया जाता है, वह परीक्षा है। विद्वान् मनुष्य परीक्षा के पश्चात ही किसी के सामने नत मस्तक होता है, अन्यथा नहीं। संस्कृति के गुण दोष की परख करना तत्ववेत्ताओं का कर्तव्य है, केवल वर्तमानिक अनुसरण ही नहीं। यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जासकता कि किसी भी संस्कृति के प्राधान्य में उसके सब मनुष्य उच्चादर्श एवं सच्चरित्र ही बने थे। इतिहास में उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट दोनों तरह की श्रेणियाँ उपलब्ध हो रही हैं। परन्तु किसकी मात्रा कितनी रही, यह संस्कृति का परीक्षण है—कसौटी है।

— आँखें खोलो —

भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति प्रधानतया तीन दर्शनों में अवतरित हुई, जैसे जैन संस्कृति, वैदिक संस्कृति एवं बौद्ध संस्कृति। वैदिक संस्कृति एवं बौद्ध संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले बहुत ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैन संस्कृति के सम्बन्ध में निःसङ्कोच यह कहना पड़ता है कि उसके विशाल गौरव को दिखाने वाली पुस्तकें वर्तमान साहित्य में नहीं के समान हैं। परिस्थितियों की जटिलता से स्वयं जैनी भी इस विषय में प्रायः उदासीन से रहे। किन्तु अब समय की प्रगति ने उन्हें इस ओर प्रेरित किया है और पुनः एक बार अपने अतीत के उज्ज्वल गौरव को प्रवर्तित करने का सङ्केत किया है। हम जैनियों का यह कर्त्तव्य है कि हम उसके तथ्य को गण्यमान्य तत्वज्ञों के समक्ष रखें, उसके रहस्य को प्रकट करें। साधारण जनता को उसके महत्व को समझावें और स्थिति को सुलझाने का एक बलवान प्रयत्न करें। इसमें हमारा लाभ है और सबका लाभ है। जैन विद्वानों का व्यापक दृष्टिकोण सदा से ही स्याद्वाद की ओर आकृष्ट रहा। उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा वह सब उसी के आधार पर। इस विशाल दृष्टि के कारण उन्हें बहुत सी समस्याओं को सुलझाने में सफलता मिली। अनेकान्त के अनुसार वे एक वस्तु को अनेक दृष्टियों से परख सकें। अपेक्षा के

प्रयोग से विरोधाभास को मिटा सकें। उन्होंने विश्व को द्रव्य ध्रुवता की अपेक्षा अनादि अनन्त एवं विभिन्न अवस्थाओं के परिवर्तन की अपेक्षा सादिसान्त बतलाया।

उनकी विशद विचार राशि के अनुसार जगत का रचयिता कोई भी नहीं है। प्राणी अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है एवं स्वयमेव तत्फल भोगता है। इन सब कामों के लिए एक असीम शक्तिशाली ईश्वर की कल्पना करना बिलकुल व्यर्थ है। आत्मा और परमाणु पिण्ड के संयोग से इन सबका सघटन और विघटन होता रहता है। आत्मा को बाह्य प्रकृति पर विजय पाने से भौतिक सुख का अनुभव होता है। अन्तर प्रकृति क्रोध मान, माया एवं लोभ पर विजय पाने से आध्यात्मिक सुख का द्वार खुल जाता है। यावत् आत्मा स्वयं परमज्योतिर्मय सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा बन जाती है। इसमें ज्ञान का उत्कृष्ट विकास अपेक्षित है। ज्ञानी मनुष्य का पथ अबाध होता है। वह पथभ्रष्ट नहीं होता[१]। जैसे धागा पिरोई हुई सुई कचरे में पड़ जाने पर भी गुम नहीं होती वैसे ही ज्ञानी पुरुष संसार में रह कर भी आत्म स्वरूप को नहीं गवाता। ज्ञान की भाँति पुरुषार्थ

१—उत्तराध्ययन।

आँखें खोलो —

चतुष्ट की विजय ही है। उसका फलित रूप अहिंसा है। वही धर्म है। अतएव हम जैन संस्कृति को धर्म-प्रधान या अहिंसा-प्रधान संस्कृति कह सकते हैं। ऐसी संस्कृति ही सुखद संस्कृति हो सकती है और मानव समूह को मैत्री के एक सूत्र में सँगठित कर सकती है। सभ्यता की गोद में बैठा सकती है। हमारा उद्देश्य धर्म को सँस्कृति का विशेषण बना ही नहीं है। उसका उच्चारण करना ही हमें आवश्यक प्रतीत नहीं होता। हमें तो वैसे मैत्री के प्राणभूत आचरणों की आवश्यकता है जिनमें अहिंसा धर्म की पुट हो सत्य धर्म की भावना हो। इस दशा में धर्म की अवहेलना है। क्या यह बुद्धि का वैषम्य नहीं ? गडुरी प्रवाह का इससे बढ़ कर और ज्वलन्त उदाहरण क्या होगा ? अब चेतने का समय है, आखें मूँदने का नहीं।

विश्व किधर जा रहा है ? किस प्रकार आपत्तियों को आह्वान् कर रहा है ? पशुता को चुनौती दे रहा है ? मानव को अभिशाप का भूतल बन रहा है ? विश्व सँहार करने को तुला हुआ है ? आज किसका दिल संदिग्ध नहीं ? कौन किस पर विश्वास करता है ? कौन किसे अपना मित्र समझता है ? सब अपने-अपने स्वार्थों की रट में हैं। इधर स्वार्थों की टक्कर में मित्रता की धज्जियाँ उड़ रही हैं तो उधर

गति का नाश होता है और लोभ से इहलोक तथा परलोक में भय होता है।३ जो पुरुष क्रोधी है सब जगह दोष ही दोष देखता है, शान्त कलह को पुनः उत्तेजित करता है, वह पापात्मा सदा अशान्त रहता है और सङ्कीर्ण पथ पर चलने वाले अन्धे पुरुष की भाँति पग-पग पर दुःख पाता है।४ आत्मा के हित को चाहने वाले पुरुष को इन चार महादोषों को त्याग देना चाहिए।५ इनकी विजय के चार प्रमुख उपाय हैं-यथा क्रोध के लिए उपशम, मान के लिए नम्रता-कोमलता, माया के लिए सरलता और लोभ के लिए सन्तोष।६

इनकी विजय, असली प्रकृति की विजय है। इससे सच्चा सुख, सच्ची शान्ति तथा सच्ची सुविधाएँ मिल सकती हैं। इस महा विजय के पश्चात् बाह्य प्रकृति में सुख-दुख देने को कोई भी सामर्थ्य नहीं रखता। अन्तः प्रकृति की विजय के आधार स्तम्भ पर खड़ी की हुई मानव संस्कृति की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ सर्वोच्च और आदर्श बन जाती हैं। जैन संस्कृति के महा ग्रन्थ का प्रारम्भिक पृष्ठ यही कषाय

४-सूत्र कृतांग अ० १३ गा० ५। ५-द० अ० ८ गा० ३८।
३-उत्तराध्ययन अ० २ गा० ५४। ६-द० अ० ८ गा० ३९।

— आँखें खोलो —

की एक सांस ली है और न शान्ति की गोद में दुख को भूला देने वाली लम्बी नींद। आज भी वह ज्यों का त्यों मूल की अवस्था में भूला-भटका सा चक्कर लगा रहा है। धुन को साध रहा है। सुख के लिए उभरता हुआ दुःख के अनन्त गर्त्त में डूबा सा जा रहा है। क्यों? तो कहना होगा कि उसने अपनी असली प्रकृति पर विजय नहीं पाई। असली सुख को, उसके साधन को पहचानने में असमर्थ रहा। उसका पर्यवेक्षण अधूरा रहा। वह दुख की जड़ें हिला नहीं सका, प्रत्युत उनके तले अपने गतिशील पैर रोप दिये।

इस दशा में उसको जितेन्द्रिय संस्कृति की आवश्यकता है। जितेन्द्रिय संस्कृति का प्रमुख कार्य प्रकृति-विजय है। मनुष्यों की आन्तरिक प्रकृति क्रोध, मान, माया और लोभ है। अजित क्रोध एवं मान, वृद्धि प्राप्त माया एवं लोभ जन्म मृत्यु के वृक्ष को सींचते हैं। हरा-भरा रखते हैं।[१] क्रोध प्रेम का नाश करता है, मान नम्रता का, माया मैत्री का और लोभ सब सद्गुणों का।[२] क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, मान से अधम गति को पाता है माया से सद्-

१-द० अ० ८ गा० ४०। २-द० अ० ८ गा० ३७।

— आंखें खोलो —

का स्थान भी वांछनीय है। इन दोनों का महत्व इनके सम्मिश्रण में है, विभाजन में नहीं। इनकी सापेक्षवृत्ति हमारे सत्कार्य का प्रमुख साधन है और निरपेक्ष वृत्ति साधना को पूर्ण करने में असमर्थ है। इसका सार इतना ही है कि ज्ञान से मनुष्य जानता है और पुरुषार्थ से करता है। अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य का ज्ञान अधिक विकसित होता है। अतएव वह दूसरे सबकी अपेक्षा कार्यकुशल कार्यक्षम एवं प्रकृति विजयी होता है।

मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाई है। उसकी तोड़ भाँज की है। हस्तलाघव का परिचय दिया है। जीवन के हर एक कार्य में विद्युत् शक्ति का प्रयोग किया है। नदी, पर्वत, खनिज प्रमुख प्राकृतिक पदार्थों का अगणित प्रकारों से व्यवहार किया है। मानवीय ऐश्वर्य को पराकाष्ठा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। यदि पूछा जाय कि यह सब क्यों किया तो उत्तर यही होगा कि सुख के लिए, शान्ति के लिए और सुविधा के लिए। यदि पूछा जाय कि यह सब किससे हुआ-मानवीय बौद्धिक विकास से और पुरुषार्थ से। आज प्रकृति उनकी अनुचरी है। इशारे पर नाचने वाली है। सुख सुविधा के मिस से उन्हें जड़ एवं क्रियाशून्य बनाने को तुली हुई है। अतएव प्रकृति-विजयी मानव ने न तो सुख

उनके सूत्रधार स्वार्थों के पाठ पढ़ा रहे हैं। क्या जाने अभी और क्या २ होना है? वर्तमान संस्कृति के परिणाम और कितने कटु होंगे? यह आज नहीं कहा जा सकता। इसका पूरा फल तभी मालूम होगा जब यह चर्म सीमा पर पहुँच सकेगा। भावी संतति इसे अभिशाप समझेगी और अपने पूर्वजों की बुद्धि पर एक गहरी आह भरेगी। वे राजनैतिक, वे अर्थशास्त्री और वे मानव रक्त के प्यासे सेनानी क्या यह नहीं जानते कि केवल लालसा के चङ्गुल में फंसकर भोली भाली जनता को दुःख के गहरे गड्ढे में ढकेलने जा रहे हैं! थोड़े जीवन के लिए खून की नदियाँ बहाने जा रहे हैं। अगर इसी प्रकार राजनैतिक कुटिलता का सीमाक्रान्त चक्र चलता रहा, अर्थ संग्रह की राक्षसी वृतियों को भड़काने वाली शिक्षाएं मिलती रही, घातक अस्त्रों के आविष्कार होते रहे तो स्वप्न में भी शान्ति के दर्शन न होंगे। यह अचूक और अमर भविष्य वाणी एक बुद्धि मान पुरुष नहीं एक नौ सिखुआ छात्र भी कर सकता है। आज भी राजनैतिकों अर्थशास्त्रियों एवं सेनानियों को जग की भलाई के लिए अपनी उच्छृंखल वृत्तियों को त्याग देना चाहिए। यदि इस प्रकार की दुःखद राजनीति, अर्थशास्त्र

और युद्ध कलाओं का विकास न हो तो मानव समाज को कोई हानि नहीं प्रत्युत् लाभ होगा। वह आज की अपेक्षा अधिक सुखी नहीं बन सकेगा। यह सब तभी सम्भव होगा क्योंकि दुनियाँ धर्म की असलीयत को समझेगी। उसके आधार पर पुनः अपनी संस्कृति का नव निर्माण करेगी।

धर्म की परख सावधानी से करनी चाहिए। चूंकि धर्म सीमाबद्ध है, किसी भी हालत में धर्म और अधर्म का सम्मिश्रण नहीं करना चाहिए। इन दोनों का सम्मिश्रण प्रत्येक कार्य में मनुष्य को उलझन में डाल देता है। ऐसी स्तिथि में साधारण जन उसका निपटारा नहीं कर सकते। बहुधा ऐसे कारणों से ही धर्म बाह्य आडम्बर में चल पड़ता है। धर्म और अधर्म के बीच हमें एक ऐसी भेद रेखा खींच देनी चाहिए जिससे ये दोनों किसी तरह भी एक न हो सकें। हमारे आचार्यों ने इस प्रश्न को बड़ी खूबी से सुलझाया है। एक ऐसा सरल उपाय दार्शनिक जगत के सामने रखा है जिससे प्रत्येक मनुष्य उनको आसानी से परख सके। थोड़े एवं सीधे शब्दों में इसका सारांश यों समझना चाहिए कि हमारे जीवन

के मुख्य पहलू दो हैं— प्रवृत्ति और निवृत्ति; दूसरे शब्दों में कार्य और निरोध। हम कहीं प्रवृत्त होते हैं और कहीं निवृत्त। हमारी जितनी निवृत्ति हैं वह सब आत्म संयम है, धर्म है। निरोध जितना अधिक महत्व पूर्ण है उतना ही वह कठिन है। प्रारंभिक दशा में निरोध हमारे जीवन के अल्पांशों में होता है और प्रवृत्ति अधिकांशों में निरोध को धर्म मानने के विषय में प्रायः सभी दर्शनों का मत एकसा है, जो कुछ अनैक्य है वह वह प्रवृत्ति के आश्रय पर ही उपजीवित है। अथवा यह कहना चाहिए कि वाद विवाद का अखाड़ा ही प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति धर्म है या अधर्म यह प्रश्न हमारे सामने सबसे विकट है। इसको सरल करने का सभी दार्शनिकों ने यथासाध्य प्रयत्न किया है। यथा सम्भव सफल भी हुए हैं। परन्तु मध्यस्थ दृष्टि से देखा जाय तो हमें यह कहना होगा कि इनमें जैनाचार्यों का प्रयत्न अधिक स्तुत्य है। उन्होंने इस विषय पर औरों की अपेक्षा अधिक प्रकाश डाला है। इसे प्रबल एवं अकाट्य युक्तियों की कसौटी पर कसा है जिसे कोई भी युक्तिवादी अस्वीकार नहीं कर सकता। वह युक्ति का शुद्ध दर्शन संक्षेप में यों है— हमारी

प्रवृत्तियों के दो वर्गीकरण हैं । एक असत्य प्रवृति नामक दूसरा सत्य प्रवृति नामक । जो जो असत्य प्रवृति है वह अधर्म है और जो जो सत्य प्रवृत्ति है वह धर्म है । सत्य प्रवृति का दूसरा नाम तपश्चर्या है । इतने मात्र से कुछ नहीं बनता । विभाजन का प्रश्न तो अभी ज्यों का त्यों है । इन दोनों प्रवृत्तियों के विभाजक सब दोषों के मूल कारण राग और द्वेष हैं । जिस प्रवृति में राग और द्वेष हैं वह असत्य प्रवृति है जिसमें यह दोनों नहीं है वह सत्य प्रवृति है । इस सिद्धान्त के आधार पर हम हमारे प्रत्येक कार्य को परख सकते है। विवेक मूलक विचारों से तोल सकते हैं । धर्म एवं अधर्म के गूढ़ रूप को प्रगट कर सकते हैं । यह निरोधात्मक धर्म जिसे जैन परिभाषा में संवर कहते हैं और सत्य प्रवृत्यात्मक धर्म जो निर्जरा के नाम से प्रख्यात है, ही जैन संस्कृति की नींव है ।



[१]

जैन संस्कृति का सामाजिक रूप

धर्म कोई बाह्य वस्तु नहीं। वह कहीं मोल नहीं मिलता। रुपये पैसे से उसका विरोध है। न कहीं उसकी राशि इकट्ठी की हुई है, न वह स्वार्थ और मोह माया का उपासक है न वह बलवान के हाथों का खिलौना है और न भौतिक लालसाओं का दास है। वह हमारी आत्मा का गुण है। हमारी आत्मा ही उसका केन्द्र है। हमारी सद्भावनाएं उसकी वासस्थली है। हमारा आचरण उसका स्वरूप है। न तो वह हमसे पृथक हो सकता है और न वह उससे। हम उसका जितना आदर करेंगे उतना ही वह हमारा करेगा, उसका सम्मान हमारा सम्मान है। उसकी प्रतिष्ठा हमारी प्रतिष्ठा है। हमें जीवन के क्षण २ में उसका ध्यान रखना चाहिए। इसमें हमारा कल्याण और उसकी महिमा है। धर्म हमारे महर्षियों की अमूल्य शोध का

एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सुख और शान्ति का सर्वोच्च साधन है।

आज सुख और शान्ति के अन्वेषण में अनेकों बाद अपनी २ राग अलाप रहे हैं। दुनियाँ को अपनी २ ओर खींच रहे हैं। सुख का प्रलोभन दे रहे हैं। सभ्यता और बौद्धिक विकास की डींगे हांक रहे हैं। पर उद्विग्नता में सुख और शान्ति कहाँ? जिनकी भीति महान् आकांक्षाओं की पूर्ति करना है, जिनके वाक्य २ महा-आरम्भ का उपदेश कर रहे हैं, जिनके पन्ने २ में स्पर्धा में भाव उभर रहे हैं, जिनका अन्तिम निष्कर्ष परिग्रह का एकाधिपत्य है, जिनके अथ से इति तक के अक्षर स्वार्थ की स्याही से लिखे गये हैं और जिनका लक्ष्य एक मात्र भौतिक सुख है। क्या वे ही (वाद) हमारे जीवन में शान्ति भरेंगे? क्या उन्हीं से हमारे सुख का पथ प्रशस्त होगा? नहीं, तीन काल में भी नहीं। यदि ऐसा करने में ही सुख मिलता, महेच्छा और महारंभ में ही आनन्दानुभूति होती तो क्यों हमारे संयमानुकूल आचरण बहुमूल्य समझे जाते? कैसे समता से अनूठा रस टपकता? आधुनिक युग प्रवर्तकों ने

महेच्छा और महारंभ को सुख का साधन बता कर जनता के हृदय को किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया है।

महेच्छा और महारंभ में सुख कैसा है। इसका परिणाम अब सामने निकल आया है। इसके कटु अनुभव अवमूर्त बन चुके हैं। किन्तु अब क्या किया जाय ? एका एक उससे पल्ला छुड़ाना भी तो सहज नहीं। अब उनका दिल टूट रहा है। उनका कला-कौशल उनके लिए अभिशाप हो रहा है। उनके प्रचार उनके लिए दुःख की खाइयाँ खुद रहे हैं। उनकी लालसा सर्वभक्षी की भान्ति उन्हें कवलित कर रही है। इस दशा में जिन भगवान महावीर की अहिंसा का अमर संदेश देने वाली सुधासिक्त वाणी उनको अमर शान्तना दे सकती है। शान्ति के अभिलाषियों और सुख के अर्थियों! अब भी चेतो! संस्कृति के प्रवाह को बदलो। स्वार्थ पूर्ण वादों को जलांजलि दो। महेच्छा और महारंभ से करवट बदलो। जैन संस्कृति को अपनाओ। जैन संस्कृति कोई व्यक्तिगत एवं जातिगत संस्कृति नहीं। वह जितेन्द्रिय पुरुषों की संस्कृति है। राग द्वेष को जीतने वालों की है। सच्चे विजेताओं की है। सुख का अधिकारी विजेता हो सकता है। पराजित नहीं। वास्तव

— आंखें खोलो —

में सुख की लालसा है तो इन्द्रियों की विजय करो, लालसाओं को जीतो और उनसे पराजित मत बनो। सबसे पहले आत्म-दमन के पाठ को सीखो। और उसे जीवन में उतारो। जिन भगवान् महावीर के तपोजीवन में प्रस्फुटित हुआ था और उनके शब्दों में आज भी हमारे लिए प्रस्फुटित है। जैसे— आत्मा का दमन करो, आत्मा ही दुर्दान्त है, आत्म-दमन करने वाला पुरुष इस लोक एवं परलोक दोनों में सुखी होता है। १ हमारी आत्मा का दमन संयम से होना चाहिए अथवा तपस्या से, न कि किसी अन्य के द्वारा प्रयुक्त बन्धन से। २ यह कौन नहीं जानता कि मन पर शासन किये बिन मनुष्य सुखी नहीं हो सकता? मन को न जीतने वाला सम्राट भी सुखी नहीं बन सकता और मन पर काबू पाने वाला एक रंक भी सच्चे सुख को पा सकता है।

जितेन्द्रिय का सामाजिक जीवन कैसा होना चाहिए यही अध्याय का विवेचनीय विषय है। जैन संस्कृति का लक्ष्य आत्म-शोधन होना चाहिए। मानव शरीर का महत्व इसलिए है कि वह अधिक से अधिक बौद्धिक विकास और

१-उत्तराध्ययन-अध्ययन-१ गाथा-१४। २-उ० अ० १ गा० १५।

सदाचार का साधन है। विनय विजयजी के शब्दों में ३ "इस अशूचि शरीर में यदि कोई सार है तो यही कि उसमें चरम सीमा का आत्म विकास करने की सामर्थ्य है।" अतएव भगवान महावीर ने चार दुष्प्राप्य वस्तुओं में मनुष्य जन्म को सबसे पहला स्थान दिया है। ४ भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौत्तम स्वामी ने समस्त क्लेशों से पार होने के लिए शरीर की नौका से तुलना की है। ५ हमें इसके साथ २ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मानव शरीर अहित का भी उतना ही बड़ा साधन है, जितना हित का है। हिताहित की विवेचना करना हमीं पर निभर है। इसलिये मनकी शुद्धी के साथ शरीर को अहिंसा के अग्नी कुण्ड में होम देना चाहिए। वासनाओं को जला कर खाक कर डालना चाहिए हम ऐसा करने में समर्थ है। हम सब कुछ कर सकते हैं। हमारी आत्मशक्ति असीम है, अनन्त है। हमें कहीं भी निराश नहीं होना चाहिए।

जैन संस्कृति में निराशा का मुलोच्छेद है। उद्योग और भाग्य का समन्वय है। उद्योग को मानकर हम सक्रिय हैं, और भाग्य को मान कर सन्तुष्ट। भाग्य

३-वपुपि विचिन्तमय परमिह सार, शिव साधन सामर्थ्य मुदारं (शान्ति) ४-उ० अ० ३ गा० ११। ५-उ० अ० २३ गा० ७३।

— आंखें खोलो —

के भरोसे हम निठल्ले नहीं रह सकते और उद्योग के उपरान्त हम हताश नहीं हो सकते । इन दोनों का संतुलन न हमें अग्रसर कर सकता है । इनके द्वारा प्राप्त होने वाली सुविधाओं को भोगने के लिए मनुष्य सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है । सामाजिक जीवन में व्यक्ति का समष्टि के साथ तांता जुड़ता है । समष्टि के विचारों का एकीकरण नहीं हो सकता । "मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना" का सिद्धान्त सर्वथा सत्य है । सामूहिक जीवन में किसी न किसी रूप में समाज के प्रत्येक अंगों के साथ सम्बन्ध रहना अनिवार्य हो जाता है । एक दूसरे का परस्पर विचार विनिमय भी होता रहता है । ऐसी अवस्था में मनुष्यों को मानवता की रक्षा के लिए शान्ति से जीवन बिताने के लिए किस मध्य बिन्दु पर अपने जीवन को स्थिर करना चाहिए ? किन-किन नियमों का पालन करना चाहिए ? इसका बोध कराने के लिए भगवान महावीर ने जिन नियमों का उपदेश किया था यों कहिए कि अहिंसा को ही अनेक प्रकार से पालना सिखाया, वे यों हैं—१ अहिंसा व्रत, २ सत्य व्रत' ३ अचौर्य व्रत, ४ स्वदार सन्तोषव्रत, ५ अपरिग्रहव्रत, ६ दिग्व्रत, ७ उपभोगपरिणामव्रत, ८ अनर्थदण्डविरति, ९

सामायिकव्रत। १० देशावकासिकव्रत, ११ पौषधव्रत, १२ अतिथिसंविभागव्रत।

उपशम, मृदुता, नम्रता और अनासक्ति ये चार गुण इन व्रतों के मूल हैं। इन चार गुणों को धारने वाला पुरुष ही व्रतों का पूरा २ लाभ उठा सकता है। जब तक ये गुण न आजाएँ तब तक सच्चा विश्वास नहीं हो सकता। सत्य श्रद्धा के बिना सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। सत्य ज्ञान के बिना व्रत ग्रहण नहीं हो सकते और इन तीनों के या ये बिना मनुष्य आत्मदर्शन, आत्मशोधन अथवा ईश्वरत्व के चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। अतएव पहले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि जैन संस्कृति का लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है और उसकी जड़ कषाय चतुष्क की विजय है। ये चार गुण चार कषाय के दमन से ही उत्पन्न होते हैं। व्रतों को अदूषित रखने के लिए कलह, अभ्याख्यान पैशुन्य, परपरिवाद, मायामृषा आदि दोषों से बचते रहना चाहिए।

इन सबका विस्तृत विवेचन इस छोटी सी पुस्तक में नहीं किया जा सकता। अहिंसा, अपरिग्रह एवं उपभोग विरति का कुछ विवेचन क्रमशः आगे के तीन अध्यायों में

— आंखें खोलो —

पाठकों को दृष्टिगोचर होगा। अवशिष्ट सबको इसी अध्याय में चक्षुपात करना है। मैं विश्वास करता हूँ कि कोई भी व्यक्ति या समाज यह समझना चाहे कि वह दुःखी क्यों है? तो उनको इससे सन्तोष होगा। उन्हें फिर इस प्रश्न की आवश्यकता न होगी कि सुख के साधन क्या हैं! मैं जैन संस्कृति के जिस आचरणों का उल्लेख कर रहा हूँ वे सामाजिक जीवन की शान्ति के अचूक उपाय हैं, सुख की अपूर्व शोध हैं। हमारे धर्माचार्यों की उदार और उदात्त देन है। उन्होंने हर प्रकार से हमारे जीवन को सभ्य एवं सांस्कृतिक बनाने का जो प्रयत्न किया वह आज भी हमें स्वर्गी सुख का अनुभव करा सकता है-यदि हम उसके अनुसार चलें। सुखार्थी मनुष्यों को इस ओर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। उन आचरणों को जीवन में उतारना चाहिए। सुख के अन्वेषक को सबसे पहले यह परखना चाहिए कि सुख दुःख के साधन हमारे आचरण हैं या बाहरी वस्तुएँ। जो आचरणों को सुख का साधन मानते हैं उनका दृष्टिकोण या मार्ग, बाहरी पदार्थों को सुख का साधन मानने वाले से पृथक होगा। मैं देखता हूँ कि जहाँ तक मुझे पता है आधुनिक तत्ववेताओं ने बाहरी वस्तुओं को ही प्रायः सुख दुःख का साधन माना है, जबकि अध्यात्मवादियों

ने आचरण को बतलाया। हम मध्यस्थ दृष्टि से दोनों की परख करें तो अध्यात्मवेताओं का मत ही ठीक जान पड़ता है। यह कहने का अभिप्राय दोनों की मुख्यता से है। क्वचित् तो दोनों का सम्बन्ध रहता ही है। जो भोजन स्वस्थ शरीर में मीठा लगता है वही ज्वर में कड़ुवा। भूख के समय भोजन पर जो रुचि होती है वह तृप्त होने के पश्चात् नहीं।

क्रोधी मनुष्य गाली सुन कर जल जाता है-वही गाली क्षमाशील का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। जो जितना अधिक आसक्त होता है वह उतना ही अधिक बाहरी वस्तुओं से प्रभावित हो जाता है। जिसका मनोबल विशुद्ध होता है वह बाहरी वस्तुओं पर क्रुद्ध या लुब्ध नहीं होता। अध्यात्मवेता को न तो जीवन का लोभ होना चाहिए और न मृत्यु का भय। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपने आचरण और भावना को स्वच्छ करना चाहिए, बाहरी वस्तुओं पर अधिक मुग्ध होने वाला उद्विग्न और अधिक अशान्त होता है। उनको ज्यों त्यों पाने के लिए अधिक हिंसा, असत्य, आरम्भ और छल आदि अशान्तिवर्धक उपायों का सहारा लेना पड़ता है जिससे सामूहिक शान्ति अपना मुँह चुरा लेती है। आज के युग में भोग के साधन चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं। नित्य नई वस्तुएँ प्रति स्पर्धा के साथ बन

रही हैं। नित्य नये तरीके निकाले जा रहे हैं। तो भी जीवन में अशान्ति है, उद्विग्नता है। इसका कारण सद्‌भावना और सदाचार की कमी है।

जैन संस्कृति के अनुसार जीवन कैसे बिताया जा सकता है ? इसका प्रारम्भ प्रस्तुत अध्याय में सत्यव्रत से होगा। सत्यव्रत के इन पाँच नियमों का पालन करना चाहिए। १ कन्या और वर के सम्बन्ध में अन्यथा नहीं बोलना चाहिए। अर्थात् इनके गुण, रूप, योग्यतादि विपर्यास नहीं बतलाना चाहिए। १ मनुष्य सम्बन्धी जो कुछ भी झूठ बोला जाता है वह सबके इसके अन्दर समाविष्ट है। २ गाय, पशु आदि के सम्बन्ध में अन्यथा नहीं कहना चाहिए। ३ भूमि के सम्बन्ध में अन्यथा नहीं बोलना चाहिए। ४ धरोहर के विषय में झूठ नहीं बोलना चाहिये। ५. झूठी साक्षी नहीं देनी चाहिए। उक्त नियमों के पालन के लिए निम्नांकित दोषों को बरजना चाहिये।

१. हठात् बिना विचारे किसी को दोषी नहीं करना चाहिए।

१—विवाह आदि के सम्बन्ध में। २—क्रम-विक्रम के संबंध में। ३—परकी भूमि को निज की कहना इत्यादि।

— आंखें खोलो —

२. मन में भेद डालने के लिए विरोधी प्रचार नहीं करना चाहिए।

३. मर्म की बातें प्रकाशित नहीं करनी चाहिए।

४. गलत रास्ता यानी मिथ्या उपदेश नहीं बतलाने चाहिए।

५. जाली लेखादि नहीं लिखना चाहिए।

सांसारिक धन्धों में फंसे रहने वाले सामाजिक मनुष्य कतई असत्य वाणी को त्याग सकें यह सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कथमपि सम्भव नहीं बनता तथापि वैसा असत्य तो अवश्य त्यागना चाहिये जिससे अपनी भावनाएं अति कलुषित बनें एवं समाज को भी उसका कटु परिणाम भोगना पड़े। अचौर्यव्रत खात खन कर, सन्दूकें खोल कर, ताले तोड़ कर, जेब काट कर इत्यादि निन्दनीय उपायों से परवस्तु का हरण नहीं करना चाहिये। पतित एवं विस्मृत वस्तु को नहीं उठाना चाहिये। डाका नहीं डालना चाहिये। अचौर्यव्रत की रक्षा के निमित्त वर्जनीय दोष:—

१. चोरी की वस्तु को नहीं खरीदना चाहिए।

२. चोर को कोई भी सहायता नहीं देनी चाहिए।

— आंखें खोलो —

३. विरुद्ध राज्य में व्यापारादि के निमित्त नहीं जाना चाहिए। (युद्ध जैसे समय पर जब एक से दूसरे का यातायात बन्द हो वैसी हालत में)

४. लेन देन के समय मोल एवं माप न्युनाधिक नहीं करना चाहिए।

५. बहुमूल्य वस्तु में अल्पमूल्य वस्तु मिला कर नहीं बेचना चाहिए। जैसे—घी में वेजिटेबल।

उक्त प्रकार की चोरी राज्य व्यवस्था से दण्डनीय एवं समाज व्यवस्था से निन्दनीय है। इससे सामाजिक जीवन में धब्बा लगता है। चोरी सामाजिक शान्ति के लिए एक बड़े से बड़ा खतरा है। अतएव इस प्रकार की बड़ी चोरी को अवश्य त्यागना चाहिए।

स्वदार सन्तोष व्रत—अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय शेष सब स्त्रियों के साथ काम क्रीड़ा करने का त्याग करना चाहिए। इस व्रत की रक्षा के लिए-वेश्या, अनाथ स्त्री, विधवा, कन्या, कुल वधु आदि के साथ काम जनक आलाप-संलाप भी नहीं करना चाहिए। काम की लालासा को नियंत्रित किये बिना मानव जीवन पशु का सा जीवन है। आरोग्य, बल और ओजस्विता का इससे घनिष्ट सम्बन्ध है। दुराचारी

समाज का अवश्य पतन होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह व्रत आवश्यक है।

दिग्व्रत—क्षेत्र भ्रमण का संयम करना चाहिए। जैसे इस सीमा से मैं आगे नहीं जाऊँगा। यदि चला जाऊँ तो भी अन्य के अधिकारों को नहीं कुचलूँगा। व्यापारादि के प्रयोग से धन हड़पने की चेष्टा नहीं करूँगा इत्यादि। इस व्रत का बड़ा महत्व है। इसके आचरण से परकीय अधिकारों पर होने वाला हस्तक्षेप रोका जा सकता है।

अनर्थ दण्डविरति—बिना प्रयोजन हठ धर्मिता, अभिमान और ऐश्वर्य के उत्कर्ष आदि हेतुओं से किसी को पीड़ित नहीं करना चाहिए। प्रिय के बिछुड़ जाने पर एवं अप्रिय के मिलने पर आतुर नहीं होना चाहिए। मैं सारे जगत का सम्राट बन जाऊँ ऐसे संकल्प नहीं करने चाहिए। बिना आवश्यकता के हिंसाकारी शस्त्रास्त्रों को नहीं देना चाहिए। इस व्रत का उद्देश्य जीवन-निर्वाह के अनावश्यक कामों को रोकना है।

सामायिक व्रत—अध्यात्म चिन्तन के लिए दैनिक प्रार्थना एवं आत्म संयम के अभ्यासार्थ प्रतिदिन एक मुहूर्त तक हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह सम्बन्धी आच-

रणों को स्वयं त्यागना चाहिए एवं दूसरों को हिंसा आदि का आदेश उपदेश नहीं देना चाहिए। आत्म संयम एवं शान्ति की अनुभूति का यह श्रेष्ठतम उपाय है।

देशावकासिक व्रत—एक घड़ी, एक दिन, एक मास आदि परिमित समय तक हिंसा असत्य, परिग्रह, भोगोपभोग आदि को रोकने के लिए इस व्रत की उपयोगिता है। जैसे—आज मैं कोई झूठ नहीं बोलूँगा। एक वर्ष में जितना जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक है-उससे अधिक धन का संग्रह नहीं करूँगा। एक महीने में अमुक २ चीजों के सिवाय कोई भी चीज नहीं खाऊँगा और नहीं पहनूंगा और न कोई दूसरी तरह से उनका व्यवहार करूँगा। एक महीने में इतनी बार से अधिक मैथुन नहीं सेवूँगा। इस प्रकार जीवन के हर एक पहलू को नियन्त्रित कर लेना चाहिये जिससे मन की उछृंखलता न बढ़ सके। इस व्रत को हम दैनिक चर्य्या का प्रमुख अंग कह सकते हैं। इयत्ता का अभ्यास करने के लिए यह पहली सीढ़ी है। अनन्त तृष्णाँ को रोकने के लिये इयत्ता का सिद्धान्त ध्रुव सत्य है। इयत्ता का अर्थ है—मन की तृष्णा का तो कतई अन्त कर डालना और जीवन की आवश्यकताओं की एक हद कर देना जिससे हिंसा और मोह की भावना

हृदय को कर्त्तव्यविमूढ़ न बना पाये और दूसरों के हक को छिनने की चेष्टा न जाग उठे।

पौषध व्रत—एक दिन रात तक उपवास के साथ हिंसा आदि को त्याग कर आत्मचिंतन करना चाहिए।

अतिथि संविभाग व्रत—अपने खान-पान के लिए भी संग्रह न करने वाले अथवा हिंसा न करने वाले त्यागी मुनियों को, उस भोजन सामग्री का जो गृहस्थ अपने लिए तैयार करता है, जितना हिस्सा दे सके उतना देना चाहिए। १

१-क्रोध, लोभ, स्वार्थ आदि कारणों से अपने आश्रित नौकर मजदूर, जानवर आदि जीव जन्तुओं को खाने पीने में रुकावट डालना, उनका काम करने का समय पूरा हो जाने पर भी छुट्टी न देना, ऊँट, घोड़ा, खच्चर आदि पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लादना, मनुष्य एवं पशुओं को गाढ़ बन्धन से बान्धना, मारना, पीटना, अंगोपांग छेदना आदि २ चित्त को क्रूर बनाने वाले कार्य नहीं करने चाहिए। यद्यपि ये बातें साधारण सी प्रतीत होती हैं तथापि इनमें एक बड़ा भारी तथ्य है। वह यह है कि बड़े आदमी अपने से छोटे जीवों को नगण्य समझ कर उनके प्रति जो लापरवाही बरतते हैं। वह इन नियमों के पालने से अपने आप नष्ट हो जाती है और ऐसी दशा में श्रेणी युद्ध वर्ग संघर्ष जैसी घटनाओं की कल्पता ही नहीं की जा सकती।

— आंखें खोलो —

आचरणों में क्षमा, कोमलता, नम्रता एवं अनासक्ति होनी चाहिए। आपस में झगड़ना नहीं चाहिए। किसी पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए। चुगली नहीं करनी चाहिए। अपने दोष को दबाने के लिए झूठ नहीं बोलना चाहिए। मद्य मांस का सेवन नहीं करना चाहिए। अनछना पानी नहीं पीना चाहिए।

निन्दा करना, दूसरे का सुख देख कर जलना इत्यादि कुचेष्टाएँ सामूहिक शान्ति को भंग करने वाली हैं, उत्तेजना एवं वैमनस्य को भड़काने वाली हैं। इनके किटाणु सामूहिक जीवन में गन्दगी फैलाने वाले हैं। हमारे वर्तमान आचार्य के शब्दों में यह आयुर्वेदीय चिकित्सा को व्यर्थ करने वाला नूतन एवं प्राचीन चिकित्सा शास्त्रों को त्रुटि पूर्ण बनाने वाला, तन्त्र, मन्त्र, जड़ी-बूटियों से न मिटने वाला अमिट और असाध्य रोग है। अतएव इन महादोषों को अवश्य त्यागना चाहिए।

ऊपर की पंक्तियों में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार जीवन का संचालन करना ही जैन संस्कृति का सामाजिक रूप है। ऐसे आचरणों में बिताया जाने वाला सामाजिक जीवन कितना उत्कृष्ट हो सकता है और आज के जग में ऐसे आच-

रणों की कितनी आवश्यकता है ! यह सबके सामने है । जैन संस्कृति की आचार पद्धति से बड़े-बड़े गणयमान्य पंडित प्रभावित हुए हैं । इण्डियन रिव्यु के अक्टूबर सन् १६२० ई० के अंक में मद्रास प्रेसीडेन्सी कॉलेज के फिलोसोफी के प्रोफेसर मि० ए० चक्रवर्ती एम० ए० एल० टी० ए० लिखित जैन फिलोसोफी नाम के निबन्ध का गुजराती अनुवाद महावीर पत्र के पौष शुक्ला-१ वी सम्वत् २४४८ के अंक में कुछ वाक्य "धर्म अने समाज नी सुधारणा मां जैन धर्म बहु आगला अगत्य नो भाग मजी सके छे कारण आ कार्य माटे ते उत्कृष्ट रीते लायक छे । आचार पालन मां जैन धर्म घणो आगल वधे छे; अने बीजा प्रचलित धर्मो ने ते सम्पूर्णतानु मान करावे छे । कोई धर्म मात्र श्रद्धा (भक्ति) ऊपर तो कोई ज्ञान ऊपर अनेकोई वली चरित्र उपरज भार मूके छे । परन्तु जैन धर्म ए त्रणे ना समन्वय अने सहयोग थी आत्मा परमात्मा थाय छे । एम स्पष्ट जनावे छे ।"

जर्मनी के डाक्टर जोहन्स हरटल तारीख १७-६-सन् १६०८ के पत्र में कहते हैं कि "मैं अपने देशवासियों को दिखाऊँगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊँचे विचार जैन धर्म और जैनाचार्यों में है । जैन का साहित्य बौद्धों से बहुत

बढ़ कर है। ज्यों-ज्यों मैं जैन धर्म और उसके साहित्य को समझता हूँ त्यों-त्यों मैं उनको अधिक पसन्द करता हूँ।"

पेरिस के डाक्टर ए० गिरनाट ने अपने पत्र तारीख ३-१२-११ में लिखा है कि "मनुष्यों की तरक्की के लिए जैन धर्म का चरित्र बहुत लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही असली, स्वतन्त्र, सादा, बहुमूल्य तथा ब्राह्मणों के मतों से भिन्न है तथा बौद्ध के समान नास्तिक नहीं है।"

राः राः वासुदेव गोविन्द आप्टे बी० ए०, इन्दौर निवासी के व्याख्यान से जैनियों की एक समय हिन्दुस्तान में उन्नतावस्था थी। धर्म जाति राज्यकार्य धुरंधरता, शास्त्रदान, समाजोन्नति आदि बातों ये इतर जनों से बहुत आगे था" इत्यादि। इस प्रकार अनेकों तत्त्व परीक्षकों ने जैन दर्शन के आचार-विचार का महत्व बतलाया है।

मध्यकाल में ब्राह्मण संस्कृति और जैन संस्कृति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था कि ज्योतिष शास्त्री भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में ज्ञान, दर्शन और चरित्र को धर्म के तत्व बतलाये हैं। शैव दर्शन में भी इन तीनों को इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। साहित्य गर्गई ने भी इस समन्वयवाद को उपयोगी माना है।

— आँखें खोलो —

जयशंकर प्रसाद ने अपने हिन्दी के महाकाव्य "कामायनी' में इस तथ्य का मनोवैंज्ञानिक ढंग से विश्लेपण किया है। केवल ज्ञान ने वैंज्ञानिकों को एटम वम जैसी नाशक शक्तियों के चक्र में फसा रखा है। केवल विश्वास ने ही अन्धश्रद्धा को पोपित किया है। इसलिए समन्वयवाद ज्ञान-दर्शन चरित्र का सम्मिलन ही हमी शोध का प्रशस्त हो सकता है।

जैन धर्म और वर्ण व्यवस्था।

जैन संस्कृति में वर्णव्यवस्था तात्विक नहीं मानी गई है। जैन-दर्शन द्रव्य ध्रुवता की अपेक्षा विश्व को अनादि, अनन्त, अचल और बदलती हुई अवस्थाओं की अपेक्षा सादिसान्त एवं परिवर्तनशील मानता है। परिवर्तन का मुख्य हेतु काल की मर्यादा है। काल के प्रवाह से परिस्थितियों का परिवर्तन होता रहता है। वर्तमान कालचक्र के कर्मयुग में मनुष्यों का प्रवेश हुआ। अकर्मण्य रह कर जीवन निभाने

के साधन समाप्त हो गये। तब जैन के प्रथम तीर्थंकर, कर्म-योग प्रथमोपदेशक ऋषभनाथ स्वामी ने असि, मसि एवं कृषि इन तीन कर्मों की व्यवस्था की। जो लोग असि द्वारा रक्षा करने लगे वे 'क्षतात्त्रायते' इसके अनुसार क्षत्रिय कहलाये। जिन्होंने स्याही से लेखापट्टी का काम किया याने क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान का धन्धा किया वे वैश्या या व्यापारी कहलाए। कृषि करने वाले कृषिकार या कारू कहलाये।

इनके पश्चात् कर्मयुग के विकास के साथ ज्यों-ज्यों भिन्न वस्तुओं की आवश्यकता बढ़ती गई त्यों-त्यों उनका निर्माण होता रहा और उन कार्यों के अनुसार निर्मात्ताओं की श्रेणियां बढ़ती गई। जैसे-लोहे का काम करने वाला लोहकार, सोना घड़नेवाला स्वर्णकार, कुम्भ बनाने वाला कुम्भकार, शासन करने वाले शासक, कुल को पालनवाले कुलपति इत्यादि। इसके पश्चात् भगवान ने दीक्षा ली तब अहिंसा आदि धर्म का उपदेश दिया। उनको पालने वाले माहण [ब्राह्मण] कहलाये। त्रिषष्टीशला का पुरुष चरित्र के अनुसार भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने विशिष्ट

स्वाध्याय करने वाले व्यक्तियों का एक संघ बनाया वह ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।१

ऋग्वेद आदि प्राचीन शास्त्रों में भगवान ऋशभदेव का स्पष्ट उल्लेख किया हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण में–"नाभिस्तु जनमेत् पुत्रं, मरुदेव्यां मनोहरं। ऋषभं क्षत्रिय सर्व क्षत्रस्य पूर्वकम् इत्यादि। मनुस्मृति में "नाभेजांत उरुक्रमः" "नीति त्रयस्य करतायो युगादौ प्रथमो जिनः" इत्यादि।

वर्ण व्यवस्था को अतार्किक बतलाते हुए जैनाचार्य अमित घति ने अपने ग्रन्थ धर्म परीक्षा में लिखा है कि "आचार मात्रभेदेन, जातिनां भेद कल्पनम्" "ब्राह्मणक्षत्रिया-दीनां, चतुर्णाभपिततातः। एकैव मानुषी जाति राचारेण विभज्यते" तत्वतः मानुषी जाति एक ही है। इसके ब्राह्मण क्षत्रिय आदि भेद आचरण की भिति पर किये गये हैं। सबसे श्रेष्ठ जाति कौनसी है इसका समाधान करते हुए लिखा है— "संयमो नियमः शीलं तपोदानं दयो दया। विद्यन्ते तात्विका यस्यां, साजातिमर्हति सत्तम्"। जैन मूल

१–ब्राह्मण के लक्षणों के लिए उत्तराध्ययन का २५ वें अध्ययन की १९ से २९ तक की गाथाएं द्रष्टव्य है।

— आंखें खोलो —

आगम में तपस्या की विशेषता बतलाई है, जाति की नहीं। सारांशः—

१- आचारभेद से जाति की कल्पना हुई है वह कोई तात्विक वस्तु नहीं।

२- सवश्रेष्ठ जाति वही है जिसमें तप, स्वाध्याय और संयम की विशेषता है।

३- प्रत्येक व्यक्ति धर्म एवं तत्वज्ञान का अधिकारी है, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। उससे मानवीय गुण अवश्य होने चाहिए।

४- पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थों में स्पृश्य और अस्पृश्य कोई भी विभाग नहीं है। (उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने आदि पुराणादि ग्रन्थों में बतलाया है वह अनुमानतः तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव है)

५- किसी का तिरस्कार करना या किसी से भी घृणा करना कर्मजन्य दोष है।

— आंखें खोलो —

५- प्रमेय कमल मार्तण्ड, आचार्य प्रभाचन्द्र रचित।

६- न्याय कुमुदचन्द्र आचार्य " रचित।

७- पद्मपुराण अध्याय-५ श्लोक ६६४ तथा अध्याय ६ श्लोक २०६ २१०। आचार्य रविसेन रचित।

जैन धर्म और लौकिक प्रश्न।

पूर्व के पृष्ठों में मानव समूह के आदरणीय ...मिक आचरणों का उल्लेख किया है। अब अध्याय की पूर्ति के साथ २ गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। जैसे विवाह किस विधि से होने चाहिए? बाल विवाह, वृद्ध विवाह, विधवा विवाह और अन्तर्राष्ट्रीय विवाह होने चाहिए या नहीं? पर्दा रखना चाहिए या नहीं? इत्यादि। अनेक समस्यायें हर समय उलझन के रूप में समाज के सूत्र-धारों के सामने रहती हैं।

— आंखें खोलो —

जैन विचारकों ने इन लौकिक कार्यों के सम्बन्ध में एक स्थिर सिद्धान्त कभी नहीं बनाया, चूंकि ये सब उल्लिखित धार्मिक आचरणों का जो स्थायी एवं सदा उपयोगी हो सकते हैं, ऐसा करना अति कठिन है। इनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता देश काल की भिन्न २ स्थितियों पर ही प्रायः निर्भर है। तत्कालीन प्रभावशाली विचारों का झुकाव जिस ओर प्रबल होता है वही कार्य समाज में प्रचलित हो जाता है। उसके प्रचलन में मैं प्रमुख कार्य उनका प्रभाव ही करता है। गुण दोष की परीक्षा नहीं। एक तो गुण दोष को आंकने वाले स्वतः ही विरले होते हैं और दूसरे ऐसे लौकिक गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों को नितान्त आवश्यक या अनावश्यक बतलाना बड़ी से बड़ी उलझन है।

इस दशा में जैनाचार्यों ने एक कंटकाकीर्ण मार्ग तो पहले से ही त्याग दिया कि लौकिक आचरणों से धार्मिक आचरण सर्वथा भिन्न हैं। दूसरा प्रश्न यह रहता है कि कौनसी लौकिक प्रथाएं आदरणीय मानी जानी चाहिए ? इसका उत्तर धार्मिक दृष्टि से तो दिया ही नहीं जा सकता क्योंकि धार्मिक दृष्टि से वे सब

की सब त्याज्य ठहरती है । धर्म से उनका कोई वास्ता नहीं । गृहस्थ मनुष्य ऐसा करने में असमर्थ है । इस परिस्तिथति में उन्हें यही चाहिए कि वे सब कामो को न त्याग सकें तो जिनमें अधिक हिंसा, आरम्भ और दुराचार हो उन्हें त्यागें । जिन प्रथाओं से मिथ्या विश्वास का पोषण हो, सम्यक श्रद्धा को एक गहरा धक्का पहुंचे ऐसी परिपाटियों को तो कत्तई तोढ़ देना चाहिए। अन्यथा जैन संस्कृति को अपनाने का लाभ ही क्या ?

जैन संस्कृति का दार्शनिक रूप जानने की जिनके हृदय में जिज्ञासा की विद्युत् चमक उठी है । उनको अवश्य ही जैन का स्यादूवाद, कर्मवाद, नवतत्व, षट्-द्रव्य, पाँच समवाय प्रमाण, नयसप्त भंगी आदि का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए । मैं विश्वास क साथ कह सकता हूँ कि इन सिद्धान्तों से विश्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य कां सुलभतया ज्ञान किया जा सकता है ।

— आंखें खोलो —

[३]

अहिंसा वाद

"सव्वेसिं जीवियं पियं" (आचाराङ्ग लोक विजय)

सब प्राणियों को जीवन प्रिय है। यह अहिंसा के उद्‌गम का मूल सूत्र है। अहिंसा में मैत्री है, सद्‌भावना है, सौहार्द है, एकता है, समानता है, और अविरोध है। सुख और शान्ति है। अहिंसा का स्वरूप उपशम है। और मृदुता है। सरलता है, संतोष है, अनासक्ति है और अद्वेष है। अहिंसा हमारे मन में है, वाणी है, कामों में है। यदि इनके द्वारा हम न किसी दूसरों को सताते हैं और न अपने आपको। अहिंसा हमारी स्वाभाविक क्रिया है। हिंसा हमारे स्वभाव के प्रतिकूल है। इस तत्व को मानव मात्र समझ जाय तो शान्ति के दर्शन सहज हो सकते हैं। हिंसा में मनुष्य को परवशता का भान होना चाहिए। बिना खाये, बिना पीये बिना कुछ किये शरीर नहीं चल सकता। शरीर की सामर्थ्य के

विना खाने-पीने का साधन नहीं जुटाया जा सकता। इस प्रकार की क्रमबद्ध शृंखलाओं की अनिवार्य प्रेरणा से मनुष्य व्यापार करता है। धन का अर्जन करता है, उसकी रक्षा करता है। उपभोग करता है। चोर-लुटेरों से अपने स्वत्व को बचाता है। दण्डप्रहार करता है। शासन व्यवस्था करता है। विरोधियों से लोहा लेता है। यह सब हिंसा है। पूर्ण आत्म संयम किये विना सब प्रकार की हिंसाओं को नहीं त्यागा जा सकता और सब प्रकार की हिंसाओं को त्यागने के पश्चात् ये सब काम नहीं किये जा सकते। कितनी जटिल समस्या है अहिंसा और हिंसा के बीच। हिंसा के विना गृहस्थ मनुष्य जी नहीं सकता और अहिंसा के बिना वह मानवीय गुणों को नहीं पा सकता। ऐसी स्थितियों में बहुधा विचार शक्तियाँ उलझ जाती हैं और इसके फलस्वरूप अहिंसा का देवी रूप जन दृष्टि से ओझल हो जाता है। जैन आचार्यों ने मनोवैज्ञानिक तरीके से मानसिक विचारों का अध्ययन किया। उनकी गहरी छानबीन की। और तत्पश्चात् एक तीसरे हिंसा और अहिंसा के बीच के मार्ग (मध्यम मार्ग) का निरूपण किया। यह मार्ग हिंसा में रहते हुए भी अहिंसा का आदर करना सिखाता है। जैन दर्शन के अनुसार उसका नाम अहिंसा अणु-

व्रत है इस व्रत का उद्देश्य उस हिंसा को छुड़वाने का है जिसको त्याग कर भी मनुष्य अपने गृहस्थ जीवन को बिता सकता है ।

गृहस्थ मनुष्य खाने के लिए भोजन पकाते हैं । पानी पीते हैं । रहने के लिए मकान बनवाते हैं । पहिनने ओढ़ने के लिए कपड़े बनवाते हैं । यह आरम्भी हिंसा है । खेती करते हैं, कल कारखाने चलाते हैं । व्यापार करते हैं, यह उद्योगी हिंसा है । देश, जाति एवं कुटुम्ब की रक्षा करते हैं, आततायियों से लड़ते हैं, अपने आश्रितों को आपत्तियों से बचाते हैं, बल छल आदि संभव उपायों का प्रयोग करते हैं, यह विरोधी हिंसा है । द्वेष वश एवं लोभ वश किसी पर आक्रमण करते हैं, बिना प्रयोजन किसी को सताते हैं, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के बिना दूसरों का स्वत्व छीनते हैं, अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए मनमाना प्राण-वध करते हैं, वृत्तियों को उच्छृंखल करते हैं, यह संकल्पी हिंसा है । इस प्रकार हिंसा के चार प्रमुख वर्ग किये गये हैं । गृह त्यागी मुनि इन चारों प्रकार की हिंसाओं को त्यागते हैं अन्यथा वे मुनि नहीं हो सकते । गृहस्थ पहिली तीन प्रकार की हिंसाओं को पूर्ण रूप से नहीं

त्याग सकते तथापि यथा संभव इनको त्यागना चाहिए। यद्यपि उक्त तीनों प्रकार की हिंसा, हिंसा है तथापि संकल्पी हिंसा नहीं। क्योंकि व्यापारादि करने में मनुष्य का सीधा उद्देश्य हिंसा करने का नहीं, कार्य करने का होता है। संकल्पी हिंसा का सीधा उद्देश्य हिंसा का होता है, कार्य करने का नहीं। आजीविका के कार्यों में एवं भोगोपभोग सामग्रियों को प्राप्त करने में दूसरों के शान्ति, सुख एवं हित और अधिकारों को कुचलने वाले काम भी बहुधा संकल्पी हिंसा जैसे बन जाते हैं। अतः सामूहिक न्याय नीति की व्यवस्था का उल्लंघन करना भी सबल हिंसा का साधन है। संकल्पी हिंसा तो गृहस्थ के लिए भी सर्वथा वर्जनीय है। संकल्पी हिंसा ही जगत को अशांत करने वाली हिंसा है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होने वाली हिंसा का असर व्यक्तिनिष्ठ है। समष्टिगत नहीं। किन्तु संकल्पी हिंसा का अभिशाप समूचे देश और समाज को भोगना पड़ सकता है, जैसा कि द्वितीय महायुद्ध के कारण अभी आसन्नभूत में लोगों ने भोगा था। और उसका असर अभी मिटा नहीं है। मनुष्यों को अब भी संभलना चाहिये। प्रतिहिंसा को जन्म देने वाली

हिंसा से बचना चाहिये । जीवन को अहिंसा के सांचे में ढालना चाहिये । अहिंसा ही एक मात्र ऐसा उपाय है जो समूचे संसार को एकता के सूत्र में पिरो सकता है । वैमनस्य को मिटा सकता है ।

शत्रु को मित्र और संदिग्ध को विश्वस्त बना सकता है। अहिंसा में एकीकरण की उतनी ही प्रबल शक्ति है, हिंसा में जितनी विरोध की। अतएव अहिंसा का प्रयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी है। जैसे अहिंसा आत्मा के लिये हित कर है वैसे ही राष्ट्र और समाज के लिये भी। राजनीति, शासन व्यवस्था एवं सामाजिक मर्यादा में तो इसका महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। जिससे शासन एवं समाज के सूत्रधारों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। भविष्य भी समुज्ज्वल बना रहे। इतिहास, काव्य-कथाओं एवं प्रचलित किंवदन्तियों से हिंसा का परिणाम निहारना चाहिये। जिस समाज या शासन-सूत्र ने जनता के साथ जितना अधिक बर्बरता का व्यवहार किया है वह उतना ही शीघ्र पतन की ओर अग्रसर हुआ। जिन्होंने जन साधारण का जितना अधिक तिरस्कार किया वे उतने ही अधिक तिरस्कृत हुए। जिन्होंने लोगों को अधिक दबाने

की चेष्टा की वे अधिक परतन्त्र और दुखी बने। "जैसा बीज बोओगे वैसा फल पाओगे" यह सर्वथा सत्य है।

हिंसा का निश्चित फल प्रतिहिंसा और प्रतिशोध है। सद्भावना वाले व्यक्ति समाज और राष्ट्र के प्रति किसी के भी दुर्भाव नहीं हो सकते। असद्भावना वाला अपने आप दूसरों का अप्रीतिपात्र बन जाता है। शत्रु को भी मित्र बनाने वाला कोई महान् तत्व है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा हमारी सर्वश्रेष्ठ निधि है। अहिंसा, अध्यात्म, देश और समाज इन सबका आधार धारक और पोषक तत्व है। अहिंसा के साधक को भय और आसक्ति से परे रहना चाहिए। मृत्यु का भय एवं जीवन का अनुराग अहिंसा का बाधक है। अहिंसा का जीवन समता है। अहिंसक को उसका पूरा खयाल रखना चाहिए। लोक परिभाषा में भी समता न्याय है और विषमता अन्याय। समता में सान्त्वना है और विषमता में उत्तेजना। विषमता के कीटाणु ने राजतन्त्र का कल्पनातीत अन्त कर डाला। आज उसका रहा सहा अस्तित्व भी आपत्तियों से घिरा हुआ है।

आज युग की वाणी में जनतन्त्र का स्वागत है। उसकी आवाज बुलन्द है। जगह-जगह उसकी मांग है।

— आंखें खोलो —

जगह-जगह उसका प्राधान्य है। यद्यपि प्रजातन्त्र प्रणाली में अनेकों की उपेक्षा की जाती है अनेकानेक दलबन्दियां होती हैं। विरोधी प्रचार एवं उकसाने वाली वृत्तियां स्वतन्त्र रहती हैं। प्रत्येक दल की महत्वाकांक्षाएँ स्पर्धा के साथ बढ़ती हैं। बार बार शासन-परिषद् (मिनिस्ट्री) का परिवर्तन होता रहता है। मत संग्रह (Vote) का क्रय-विक्रय किया जाता है। अपनी-अपनी पार्टी को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, उस पर भी प्रजातन्त्र का बोलबाला है। वह प्रजातन्त्र का नहीं समता की भावना का है। जन साधारण को इसमें समता के तथ्य अधिक प्रतीत होते हैं और विषमता के काम प्रजातन्त्र, राजतन्त्र का प्रत्यक्ष विरोध है। निन्दा और अपवाद है। राजतन्त्र बहुत से तथ्यों को लेकर चला था और वैसे ही चलता रहता तो आज उसकी ऐसी दयनीय दशा न होती। राजतन्त्र के अधिकारी जन साधारण की रक्षा और आततायियों को दण्ड देने के लिए एवं मात्स्यवृत्ति, अर्थात् शक्तिशालियों द्वारा निर्बलों पर होने वाले निर्घृण प्रहारों को रोकने के लिये बनाये गये थे न कि जन शोषण के द्वारा स्वपोषण के लिये। सामूहिक मर्यादाओं को पालना और पलवाना उनका काम था न कि स्वयं उनका उलंघन करना। पर

समय की परावृत्ति के साथ उनके विचारों में विषमता के अंकुर फूट पड़े। हिंसा के भाव प्रबल और पुष्ट हो गये। वे अपने आपको एक सञ्चालक न मान कर अति मानव मानने लगे। उन्होंने सामूहिक नियमों की अवहेलना की। अपनी मनमानी करने को ही न्याय का मान दण्ड बना लिया। बहुत दिनों तक ऐसा वैषम्य चक्र चलता रहा। पर, आखिर जनता ऊब गई। उनके विरुद्ध एक सामूहिक क्रांति उठाई। राजतंत्र धराशायी हुआ और जनतंत्र का सितारा चमक उठा। यह अहिंसा और हिंसा का ज्वलंत उदाहरण है। समता और विषमता का अनन्य प्रतीक है। प्रेम और विरोध का स्फुट दर्शन है। आज के राजनैतिक और सामाजिक व्यक्ति अब भी प्रजातंत्र में भी परोक्ष में पल्लवित होने वाली विषमता को तिलांजलि न देंगे तो क्या प्रजातंत्र भी एक दिन अपने अस्तित्व को खतरे में न पायेगा? हम हमारे साथ समता का व्यवहार करवाना चाहते हैं तो दूसरों के साथ वैसा ही क्यों न करें? हमें विश्व को अपने साथ तौलना चाहिये। जो स्थिति हमारे लिए असह्य, दुखद और विकट है उसे क्यों हम दूसरों के लिए उपस्थित करें? हमारे अन्दर चेतना ने विकास पाया है, हमारे अन्दर बुद्धि है, तर्क है, हम सोच सकते हैं, समझ

सकते हैं। तो भी हम दूसरों के दुःख की पीड़ा को न समझें तो आंखें मूँद अन्धेरा करने के सिवाय कुछ नहीं। अहिंसा का मर्म समझें विना यों ही अनगिनत पुरुषों के जीवन पशुओं की भांति आपस में लड़ते झगड़ते वैर विरोध कलह, कदाग्रह करते-करते वर्बाद हो गये और होते जायेंगे। सुख शान्ति तो सङ्कल्पी हिंसा को छोड़े विना, विषमता का वमन किये विना प्राप्त न हो सकेगी; चाहे कागज के टुकड़ों में कितने ही निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव क्यों न पास कर लिये जांय। संकल्पी हिंसा को त्यागने का क्रम निम्न प्रकार है:--

१-दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले निरपराध जीवों को संकल्प पूर्वक जान-बूझ कर मारने का प्रत्याख्यान करना चाहिये और दूसरों के पास मरवाने का भी। एकेन्द्रिय जिवों का वध भी यथाशक्य वर्जना चाहिए। इस प्रकार की प्रतिज्ञा से हृदय में मैत्री का उद्भव होता है और क्रूरता का मूलोच्छेद होता है जो कि सब अवगुणों की जड़ है।

२-एकत्व को जीवित रखने के लिये आपसी विरोध न करना चाहिये।

— आंखें खोलो—

[४]

अपरिग्रह वाद

गृहस्थ जीवन [illegible] थ परिग्रह का घनिष्ट सम्बन्ध है। उनकी प्रत्येक आवश्यकताएं परिग्रह पर ही निर्भर है। जीवन निर्वाह के लिए उनकी दृष्टि में परिग्रह का मूल्यांकन एवं महत्वपूर्ण वस्तु है। अर्थ-अर्जन, चार पुरुषार्थों में एक पुरुषार्थ है इसकी उपयोगिता के प्रदर्शन के लिए अनेकों अर्थ-शक्तियों ने अर्थ-शास्त्रों की रचना की। परिणाम यह हुआ कि मानव वर्ग अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लक्ष्य को भुला कर अतुल अर्थ-संग्रह की राक्षसी के चंगुल में फस गया। अर्थ लोलुपता के दल २ में सद्भावना एवं न्याय नीति की प्रगति का अंत कर डाला। व्यापार प्रणाली, दूसरे शब्दों में शोषण प्रणाली के नए नए आविष्कार हुए, शरीर का पसीना बहाने वालों के रक्त को चूसने के सभ्य उपायों का भी क्रांतिकारी विकास हुआ। आज तो समूचे विश्व के

प्रांगण में अर्थ-संग्रह का ताण्डव नृत्य हो रहा है और वही सभ्यता का मान दण्ड और बड़प्पन की कसौटी है। जिसके पास धन है, वह सब कुछ है। निर्धन चाहे कितना ही नैतिक जीवन वाला क्यों न हो वह तो चड़क-भड़क की दुनियां की नजर में ही नहीं आता। क्या समाज पतन के बहुमुखी कारणों में यह एक कारण नहीं है ? समाज को हर समय नैतिक उच्चता की आवश्यकता रहती है। नैतिक प्रतिष्ठा वाले ही समाज को ऊँचा उठा सकते हैं, धनिक नहीं। जितने समाज के प्रमुख निर्माता हुए हैं वे सब नैतिक बल के पुजारी हुए हैं। उन सब ने एक स्वर में अर्थ-संग्रह की लालसा को त्यागने एवं नैतिक बल को अपनाने का उपदेश या आदेश दिया है। किन्हीं ने अध्यात्म प्रधान भावना से तो, किन्हीं ने समाज सद्व्यवस्था की भावना से। पर समूचे संसार के धन को हड़पने का सन्देश तो शायद ही किसी माननीय महापुरुष की वाणी में अवतरित हुआ है। केवल अर्थ-शास्त्र ही की छत्रछाया में महा परिग्रह का बीज पनपा है और उसके कारण ही अर्थ सञ्चय की ओर सबका दृष्टिकोण टिका हुआ है। नहीं तो मानव समाज का लक्ष्य अनन्त और

असीम आशा की पूर्ति का न होकर आवश्यकता की पूर्ति का न होता और धन में भी आवश्यकता पूर्ति की क्षमता है। आशा पूर्ति की नहीं। या यों कहना चाहिए कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूर सकता है, आशा को नहीं।

भगवान् महावीर के शब्दों में धन की आशा आकाश की तरह अनन्त और सारे जगत का साम्राज्य पाकर भी तृप्त नहीं होने वाली है। मनुष्य अपने आप अधिक आशा में अशान्ति का अनुभव करता है। पर धन की लगन इतना अन्दर धसी हुई है कि उसे निकाल फेंकना मन में नहीं जचता। वैसा व्यक्ति तो लोक-दृष्टि में भी निन्दनीय समझा जाता है। जो स्वायत्त अमित धन राशि का सद्व्यय न कर पृथ्वी से निकले धन को पृथ्वी के अन्दर ही गाड़ देता है। अतएव भगवान् महावीर ने अपरिग्रह अणुव्रत का निर्देशन किया है। इसका दूसरा नाम इच्छा परिमाण व्रत है इस व्रत की महान उपयोगिता है। इसके आन्तरिक तत्व को समझने की उदात्त आवश्यकता है चूँकि मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है। महा परिग्रहवाद दुःख और अशान्ति का

— आँखें खोलो —

मूल है । आर्थिक आकांक्षा संघर्ष की स्थिर भित्ति है। परिग्रह का मूल्य महत्व और स्पर्धा तब तक ही है। जब तक मनुष्य लोभ की धुन में लगा रहता है। लोभ का संवरण होते ही वह कंकड़ के समान लगता है। जीवन परिमित है धन अपरिमित है। लालसा अनन्त है। इस दशा में अनियन्त्रित की आकांक्षाओंपूर्ति करना असंभव है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र की शांति और सद्-व्यवस्था की रक्षा के निमित्त आर्थिक लोभ का संवरण करना चाहिए। लोभ का संवरण किये विना मनुष्य वास्तविक शान्ति का अनुभव तक नहीं कर सकता। महा परिग्रह का लाभ महा लाभ को प्रबल करता है। महा लोभ महारम्भ को जन्म देता है। महारम्भ महान अनर्थ को पैदा करता है। महान अनर्थ अशान्ति और उद्विग्नता के पोषक हैं। यह एक संक्रामक रोग है। अतएव सुखार्थी मनुष्यों को इससे सावधान रहना चाहिए। लोभ की विजय का एक मात्र उपाय संतोष ही है। आकांक्षाओं को संतोष से ही पराजित किया जा सकता है, आवश्यकताओं को बढ़ाने से नहीं। अनावश्यक अर्थ-संग्रह से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। हिंसा अपने आप नहीं पनप सकती। उसकी जड़ को मजबूत करने में

अर्थ लोलुपता का प्रमुख हाथ है। जैसे हिंसा दुर्भावना का साधन है वैसे ही परिग्रह हिंसा की दूसरों के अधिकार एवं स्वत्व को हड़पने की चेष्टाएँ व्यर्थ द्रव्य सञ्चय की हथ पुतली है।

परिग्रह का अनावश्यक एकीकरण केवल धार्मिक नियमों के प्रतिकूल नहीं अपितु देश और समाज के लिये भी कष्टकर है। परिग्रह का उद्योग किये बिना गृह-वासियों का जीवन निर्वाह नहीं हो सकता पर उसका दुरुपयोग करना तो उचित नहीं। धन धान्य और भूमि जीवन की आवश्यकताओं के साधन हैं। भूख को शान्त करने के लिए अन्न है। अन्न को उपजाने के लिए धन है। धन को प्राप्त करने के लिए न्यायोचित व्यापार क्रम विक्रय का व्यवहार है। तथापि लालच रूपी आग की लपटों में सद्विवेक को नहीं झुलसाने देना चाहिए। जैसा कि वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी ने 'लोभ निवारण' में लिखा है। "यद्यपि धन सचै गृहवासी, निज कुटुम्ब पोषण को प्यासी मुश्किल यराणो है सन्यासी, तदपि बुझाय अथाय लाय जो लालच की" ऊपर की पंक्तियों में आवश्यक धन धान्य भूमि एवं व्यापार का प्रमुख हेतु बताया गया है। लोक साधारण में इनका

यही उपयोग है। इसके अतिरिक्त अनावश्यक धन धान्य का संग्रह करना, अनावश्यक भू-भाग पर अधिकार जमाये रखना एवं निरर्थक व्यापार द्वारा जन-साधारण का शोषण करना, आवश्यक सामग्री का दुरुपयोग है। इन कारणों से राष्ट्र और समाज के सामने बड़े २ संकट खड़े रहते हैं। उनका सहज निपटारा करना एक जटिल समस्या हो जाती है। इस दशा में अध्यात्मवाद की मूल में पनपने वाला अपरिग्रहवाद जितना सफल बन सकता है उतना कामयाब न तो समाजवाद हो सकता है और न साम्यवाद एवं न इन जैसा कोई दूसरा वाद ही। इन सब वादों का निर्माण एक अंतर आह और करुण सिसकार के बाद हुआ है। इनके गर्भ में ईर्ष्या और स्पर्धा के बीज छिपे हुए हैं। इन पर स्वार्थ भावों की एक गहरी छाप है।

यह धनिक और निर्धनों के बीच होने वाला संघर्ष है। यह मजदूरों को सताये जाने का एवं गरीबों को अधिक त्रस्त करने का कटु परिणाम है। लोक दृष्टि से इनमें समीकरण तथा वर्गीकरण का ही प्रमुख शुभ चिन्ह माना जाता है। इसके सिवाय उनमें जनता को उकसाने की एवं उत्तेजना फैलाने की भावना वैसी

ही प्रबल है जैसी पूँजीवाद में हुआ करती है। जो निरापद शुद्ध और निःस्वार्थ वृति को लेकर चलने वाला कोई वाद है तो वह एक आध्यात्मवाद ही है। अपरिग्रहवाद उसी आध्यात्मवाद का एक अंग है। इसका प्रादुर्भाव धनिकों को निर्धन या निर्धनों को धनिक बनाने के लिए अथवा धन का समान बँटवारा करवाने के लिये नहीं हुआ है। असीम आशा के पंजे से मनुष्यों का छुटकारा करवाने के लिये ही भगवान् महावीर ने इसको जन्म दिया है। यह सुखद सिद्धान्त उसी संतोष की देख-रेख में पला-पुसा है जिसने बुरी तरह लोभ की लपटों में झुलसते हुए मनुष्य को बचाया। इसमें ईर्ष्या और स्पर्धा के लिये कोई स्थान नहीं है। इसके द्वारा कोई स्वार्थ नहीं साधा जा सकता। यह एक मात्र परमार्थ की ओर ले जाने वाला है। अपरिग्रह अणुव्रत को अपनाने का ध्येय धन को प्राप्त करने का नहीं, किन्तु तृष्णा को जीतने का होता है। तृष्णा की विजय का यही एक वास्तविक उपाय है। 'लोभ निवारण' का एक पद्य इस पर अच्छा प्रकाश डालता है। "लाय जो लालच की, घट २ में रही छाय; लाय जो लालच की, शांत करो संतोष सलिल से; संतों की संगति कर दिल

से, अलग रहो अत्याशु अनिल से, अपर न कोई उपाय" संतोषी पुरुष ही तृप्त हो सकता है। असन्तोषी ठीक इसके विपरीत परकीय अधिकारों को पाने के लिए अतृप्त और लालायित रहता है। अतएव सुख शांति को चाहने वाले प्रत्येक वाद को अपने अनुयायियों को संतोष, अपरिग्रह एवं इच्छापरिणाम का अमूल्य सबक सिखाना चाहिए। इससे सहज ही लोक-भावना में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। पारस्परिक असमंजस को मिटाने के लिए फिर नये सिरे से कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता न रहेगी।

अपने आप सब प्रकार का सुधार होता चला जायगा। परिग्रह के प्रत्येक पहलू को नियंत्रित करने के लिए इसे नव भागों में बांटा है जैसे-(१) क्षेत्र परिमाण- खुली जमीन का परिमाण करना चाहिए (२) वास्तु परिमाण- घर जैसी ढँकी जमीन एवं गाँव नगर और देश का परिमाण करना चाहिए। (३, ४) हिरण्य सुवर्ण परिमाण- चाँदी सोना एवं उनकी बने आभूषणों का परिमाण करना चाहिए। (५) धन परिमाण रुपये, मोहरें, सिक्के एवं वस्त्र जवाहरात आदि का परिमाण करना चाहिए। (६) धान्य परिमाण- गेहूँ, चना, जौ, मक्का आदि धान का परिमाण करना चाहिए। (७) द्विपद

परिमाण दो पैर वाले नौकर नौकरानियों का परिमाण करना चाहिए। (८) चतुष्पद परिमाण- चार पैर वाले हाथी, ऊँट, गाय, भैंस, घोड़े आदि का परिमाण करना चाहिए। (९) कुप्य परिमाण- तांबा, लोहा, पीतल आदि धातुएँ एवं इनके बनाये बर्तन तथा घर की आवश्यक सामग्री खाट मांचा रसोई का सामान मोटर वायुयान आदि २ का परिमाण करना चाहिए। इस प्रकार परिग्रह के ये नव विभाग हैं। इनके वजन, माप, मूल्य एवं संख्या का परिमाण करना चाहिए। इनकी जो परिमाण किया जाय उसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। अर्थ-संग्रह का निरोध करने से लालसा पर ताला कुञ्जी हो जाती है। उच्छृंखलता से विहरने वाले मन की गति सीमित क्षेत्र में बंध जाती है। आवश्यकताओं का संकोच हो जाता है। यों तो मनुष्य आवश्यकता के नाम पर सब कुछ कर सकता है किन्तु आवश्यकता का अर्थ जीवन की अनिवार्य एवं उचित आवश्यकता से सम्बन्धित होना चाहिए, चूँकि अपरिग्रहवाद एक आत्मानुशासन की वस्तु है। इसमें वञ्चना का जाल फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं अतएव इसको आत्मीय सदिच्छा से स्वीकार कर सरलता पूर्वक पालन करना चाहिए और

यथाशक्य क्रमशः जीवन की न्यूनता के साथ २ परिग्रह का भी न्यून करने का पवित्र ध्यान रखना चाहिए। यही हमारे अपरिग्रहवाद की एक छोटी सी रूप रेखा है।

---

[५]

भोग्य विरतिवाद

भोग्य विरतिवाद अपरिग्रहवाद का एक विशाल रूप है। परिग्रह दो अवस्थाओं का मध्यवर्ती है। उसकी पूर्वावस्था व्यापार और उत्तरावस्था उपभोग है। व्यापार से धन मिलता है। धन से भोग्य वस्तुएँ मिलती हैं। भोग्य वस्तुओं के दो विभाग हैं। एक तो वह खाद्य पेय जैसी वस्तुएँ, जो एक बार उपभोग की जा सकें। दूसरा वह वस्त्र आभूषण आदि पदार्थ जिनका

बार-बार उपभोग हो सके । इन दो प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं को सीमित करने के लिए भोग्यविरति का विधान किया गया है । भोग्य पदार्थों का दुनिया में कोई शुमार नहीं । भिन्न-भिन्न जगहों पर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं । उन सबका एक मनुष्य एक दिन या एक वर्ष में तो क्या समूचे जीवन में भी उपभोग नहीं कर सकता । उनकी अधिक तृष्णा अधिक भोग मनुष्यों के लिए हितकर है । स्वास्थ्य की ओर निगाह डालें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जो मनुष्य जितनी कम चीजें खायगा व ऐशोआराम में जितना कम फंसेगा, वह उतना ही अधिक तेजस्वी, बलवान एवं स्वस्थ रहेगा । समाज की दशा को निहारने पर भी यही परिणाम निकलता है । अधिक भोगोपभोग की बेड़ियों में बन्धा रहने वाला समाज अन्दर ही अन्दर जर्जर और क्षीण होता चला जाता है । उसका आर्थिक और नैतिक पतन हो जाता है । यही दशा एक राष्ट्र और व्यक्ति की है । उनकी स्थिति को सुधारने के लिए यह व्रत एक सिद्धतन्त्र है इस व्रत से धन का अपव्यय रोका जा सकता है, आर्थिक कठिनाइयों का अन्त किया जा सकता है । रोटी और कपड़े का प्रश्न सहज निपट सकता है । मनमानी बुराइयों को

नेस्तोनाबूद किया जा सकता है। अध्यात्मवाद में आत्म स्वातन्त्र्य का यह एक अचूक उपाय माना गया है। मनुष्य दैनिक, मासिक एवं वार्षिक आवश्यकताओं को भलीभाँति समझता है। फिर भी योग्य पदार्थों का अधिक संचय करने से क्या लाभ है ? यह प्रत्येक व्यक्ति के लिये विचारणीय है। अधिक संचय की भावना मनुष्यों के लिये एक घातक अस्त्र है। हर एक व्यक्ति आवश्यकता के उपरान्त भोग्य वस्तुओं को इकट्ठा करना चाहता है।

फलस्वरूप वस्तु का अभाव और असम्भवित मूल्य-वृद्धि हो जाती है। कभी २ तो कभी कोई, कोई किसी वस्तु के लिए तो, कभी कोई वस्तु के लिए आपस में एक दूसरे के लिए दुखद वातावरण पैदा कर देते हैं। इस दशा में मनुष्यों को क्या करना उचित है। वे स्वयं समझ सकते हैं। भोग्य विरतिवाद की अनिवार्यता को हृदयङ्गम कर सकते हैं। अनावश्यक संग्रह को रोकने के लिए सरकार कानून बनाती है। दण्ड विधान के अनुसार शासन विधान का उलंघन करने वाले दण्डित किये जाते हैं। चोर बाजार में सरगर्मी आ जाती है। जालसाजियों के पचड़े में अनेकों मनुष्य अपने अमूल्य मानवीय जीवन को बर्बाद कर देते हैं। ऐसी

परिस्थिति में राज्य संचालकों को भी एक नवीन दिशा की ओर कदम उठाना चाहिए। उन व्यापारियों एवं संग्राहकों को उनकी सत् असत् प्रवृत्ति का बोध कराना चाहिए। यदि वह अपने कार्यों को स्वयं समझ सकेंगे तो बहुधा फिर कानून एवं दण्ड प्रयोग की भी आवश्यकता न रहेगी। मनुष्य ५०–१०० या कितनी ही निश्चित अवधि के साथ जन्मा है। उसका पौद्गलिक शरीर पौद्गलिक पदार्थों से पाला-पोसा जाता है। मनुष्य को खाने को रोटी, पीने को पानी, पहिनने को कपड़े और रहने को मकान की आवश्यकता होती है और न तो वह धन व भाँति-भाँति की भोग्य वस्तुओं को साथ में लाया है और न साथ ले जायगा भी। मनुष्य एकाकी आता है एकाकी चला जाता है। सारे द्रव्य यों के यों पड़े रह जाते हैं। यह अनिवार्य है, निश्चित है, सब जानते हैं, अच्छी तरह समझते हैं। इस पर भी इतना अविवेक पूर्ण कार्य करना एक बड़ी से बड़ी मूर्खता है। इस प्रकार उनकी अविचार पूर्ण प्रणाली का उनको भान कराया जाय तो उनके हृदय में विरति के अंकुर पनपेंगे। यह शिक्षा जीवन के आरम्भिक काल से ही बालकों को मिलनी चाहिये जिससे उनके संस्कार भोग प्रधान न होकर त्याग प्रधान हो सके। दण्ड-प्रणाली की अपेक्षा

हिता-हित को समझने की आवश्यकता अधिक है। दण्ड विधान ऊपरी भय ऊपरी शासन है। अध्यात्मिक भान होना आंतरिक-भय आंतरिक शासन है। वाह्य-भय और वाह्य-शासन केवल वाहरी कायवाही को रोक सकता है, आंतरिक को नहीं। आंतरिक कार्यों की रुकावट हुऐ विना कुछ नहीं वनना आंतरिक बुराइयों को आत्म-भय और आत्म-शासन ही रोक सकता है। अन्दर की बुराइयों को खत्म करने के वाद वाहरी बुराइयाँ तो अपने आप खत्म हो जाती हैं। इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने अध्यात्मवाद को जीवन का प्रमुख अंग माना था। विदेशी विद्वानों ने भी विश्व के लिये अध्यात्मवाद को भारत की देन माना है। इसके लिये वह अपने को भारत का ऋणी मानते हैं। पर खेद इस वात का है कि आज भारतीय स्वयं इस स्वर्गीय तत्व को भुला कर और २ वादों के अन्वेषण में व्यस्त हैं। स्वतन्त्र भारत में अध्यात्मवाद जितना उपयोगी हो सकता है, उतना और कोई दूसरा वाद नहीं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, चूंकि भारतीयों की मूर्छित चेतना में अव भी अध्यात्मवाद की एक गहरी झलक है। आवाल वृद्ध उसको समझने की रुचि रखते हैं। और यत् किंचित अंशों में उसे जानते भी हैं। उसके प्रति अटल

श्रद्धा है, आत्म विश्वास है। त्रुटि सिर्फ इतनी ही है कि वह उसका ठीक २ उपयोग करना नहीं जानते। हमें उनको उसका उपयोग करना सिखाना चाहिए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका महत्व समझना चाहिये। यह एक ऐसा तत्व है जिसे भौतिकवादी एवं अध्यात्मवादी दोनों निर्विवाद स्वीकार कर सकते हैं। यह लौकिक एवं परलौकिक दोनों दृष्टियों से उपकारी है। हमें सबसे पहले आत्म सुधार की आवश्यकता है। आत्म सुधार का एकमात्र कारण आत्मानुशासन है। आत्मानुशासन का अर्थ है। अपनी आत्मा पर, अपने मन पर स्वयं शासन करना।

आत्मानुशासन का हेतु अध्यात्मवाद है। अतएव वह हमारे सर्वाङ्गीण सुधार का प्रबल साधन है। अध्यात्मवाद में त्याग भावना का बड़ा भारी महत्व है। इसलिये वह त्याग प्रधान कहा जाता है। त्याग एक अद्वितीय चमत्कारक पदार्थ है। उसमें व्यष्टि और समष्टि सबका हित अन्तर्विष्ट है। भोगासक्त मनुष्यों की भी सहज श्रद्धा त्याग के प्रति होती है भोग के प्रति नहीं। भोग मनुष्यों की दुर्बलता है। त्याग में पौरुष है। भोग का रूप मधुर और परिणाम कटु है। त्याग का रूप कठोर और परिणाम मृदु है। भोग में अशांति है, चिन्ता है, दुःख है। त्याग में सुख है, शांति है, सद्भावना

है। त्याग परम्परा का विकास होना उतना ही जरूरी है जितना किया जा सके। भोग परम्परा के विकास के लिये दुनिया के वैज्ञानिकों ने अपना दिमाग निकाल कर रख दिया। अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त दुनिया को बहुमुखी पतन की ओर ले गये। भोग्य पदार्थों की चकमक में ही फैशन का जन्म हुआ आज यह कौन नहीं जानता कि फैशन के पीछे दुनिया कितनी बर्बाद हो रही है। खाने को पूरी रोटी भी नहीं मिलती पर सिगरेट पिये बिना तो नहीं रहा जा सकता। पैर खसोटने के लिये झोंपड़ी भी नहीं है तो भी सिनेमा देखे बिना तो नींद भी नहीं आती। एक ओर बड़े-बड़े सभ्य पुरुष व्यर्थ की शौकिनाई में धन का अपव्यय कर रहे हैं तो दूसरी ओर सीधे सादे मनुष्य रोटी के लिये बिलख रहे हैं। खाने को रोटी और तन ढाँकने को पूरा कपड़ा नहीं मिलता, क्या इसका कारण उन पदार्थों की कमी है? नहीं। यह सब भोग्य पदार्थों की उत्कट लालसा और उनके अनावश्यक संग्रह का दुष्परिणाम है। ऐसी परिस्थितियों से भोग्यविरति का उभयमुखी लाभ जनता के बुद्धिगम्य हो सकता है। इसका मुख्य लाभ आत्म सँयम तो है ही, किन्तु उसके साथ-साथ खाद्य, परिधेय पदार्थों की कमी का प्रश्न भी हल हो जाता है। भोग्य वस्तुओं

है। जैन संस्कृति के आधार पर जीवन यापन करने वाला साधु-वर्ग कितना सुखी और कितना संतुष्ट है। अहिंसा, सन्तोष और त्याग में सुख है। यह प्रत्यक्ष है। दुनिया भर का धन उनके सामने कंकड़ है दुनिया भर का वैभव और विलासपूर्ण ऐश्वर्य उनके लिए कल्पनामात्र है। अध्यात्मवाद की सच्चाई का यह एक स्पष्ट दर्शन है। यद्यपि उसका संगठन और आत्मीय अनुशासन कितना हृदयस्पर्शी है। आदर्श और अनुकरणीय है। भारत को इस छोटे किन्तु महत्वपूर्ण समाज पर विशुद्ध गर्व हो सकता है। हर एक सामाजिक या राजनैतिक संस्थाएँ इसके ऐक्य एवं हृदयानुशासन को अपनावें तो उनकी बहुत सी विकट स्थितियों का अन्त हो सकता है। इस संघ के प्रमुख नेता श्रीतुलसी गणी हैं। इनके अनुशासन में ६४१ साधु-साध्वियां उच्च-कोटि का अध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं। मुनि जीवन का एकमात्र लक्ष्य अहिंसा धर्म के द्वारा आत्मशोधन करना और दूसरों को वैसा पथ दिखलाना है। हमारा इसमें अटल विश्वास और आत्मानुभव है कि जो मनुष्य अहिंसा, सत्य, संतोष आदि सद्गुणों में अपने जीवन को उतारेगा वही सच्ची शान्ति और सच्चे सुख का अनुभव कर सकेगा।

॥ इति ॥